

# जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षाके अन्तर्गत उपयोगी

## प्रश्नोत्तर १ की सामान्य समीक्षा

प्रश्नोत्तर १ के आवश्यक अंशोंके उद्धरण

पूर्वपक्ष १—द्रव्यकर्मके उदयसे संसारी आत्माका विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण होता है या नहीं ?  
त० च० पृ० १ ।

उत्तरपक्ष १—द्रव्यकर्मके उदय और संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमें व्यवहारसे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्तृ-कर्म-सम्बन्ध नहीं है ।—त० च० पृ० १ ।

पूर्वपक्ष २—इस प्रश्नका उत्तर जो आपने यह दिया है कि व्यवहारसे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्तृ-कर्म सम्बन्ध नहीं है, सो यह उत्तर हमारे प्रश्नका नहीं है, क्योंकि हमने द्रव्यकर्म और आत्माका निमित्त-नैमित्तिक तथा कर्तृ-कर्म सम्बन्ध नहीं पूछा है ।— त० च० पृ० ४ ।

उत्तरपक्ष २—यह ठीक है कि प्रश्नका उत्तर देते हुए समयसारकी ८० से ८२ तककी जिन तीन गाथाओंका उद्धरण देकर निमित्त-नैमित्तिकभाव दिखलाया गया है वहाँ कर्तृ-कर्म सम्बन्धका निर्देश मात्र इसलिए किया गया है ताकि कोई ऐसे भ्रममें न पड़ जाय कि यदि आगममें निमित्तमें कर्तृपनेका व्यवहारसे व्यपदेश किया गया है तो वह यथार्थमें कर्ता बनकर कार्यको करता होगा । वस्तुतः जैनागममें कर्ता तो उपादानको ही स्वीकार किया गया है और यही कारण है कि जिनागममें कर्ताका लक्षण “जो परिणमन करता है वह कर्ता होता है” यह किया गया है ।—त० च० पृ० ८ ।

पूर्वपक्ष ३—इस प्रश्नका आशय यह था कि जीवमें जो क्रोध आदि विकारी भाव उत्पन्न होते हुए प्रत्यक्ष देखे जाते हैं क्या वे द्रव्यकर्मोदयके बिना होते हैं या द्रव्यकर्मोदयके अनुरूप होते हैं । संसारी जीवका जो जन्म-मरणरूप चतुर्गतिभ्रमण प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है क्या वह भी कर्मोदयके अधीन हो रहा है या यह जीव स्वतंत्र अपनी योग्यतानुसार चतुर्गतिभ्रमण कर रहा है ।

आपके द्वारा इस प्रश्नका उत्तर न तो प्रथम वक्तव्यमें दिया गया है और न इस दूसरे वक्तव्यमें दिया गया है—यद्यपि आपके प्रथम वक्तव्यके ऊपर प्रतिशंका उपस्थित करते हुए इस ओर आपका ध्यान दिलाया गया था । आपने अपने दोनों वक्तव्योंमें निमित्त-कर्तृ-कर्म सम्बन्धकी अप्रासंगिक चर्चा प्रारम्भ करके मूल प्रश्नके उत्तरको टालनेका प्रयत्न किया है ।

यह तो सर्वसम्मत है कि जीव अनादिकालसे विकारी हो रहा है । विकारका कारण कर्मबन्ध है, क्योंकि दो पदार्थोंके परस्पर बन्ध बिना लोकमें विकार नहीं होता । कहा भी है—“द्वयकृतो लोके विकारो भवेत्”  
—पद्मनन्दि-पञ्चविंशतिका २३-७ ।

यदि क्रोध आदि विकारीभावोंको कर्मोदय बिना मान लिया जावे तो उपयोगके समान वे भी जीवके स्वभाव-भाव हो जायेंगे और ऐसा माननेपर इन विकारीभावोंका नाश न होनेसे मोक्षके अभावका प्रसंग आ जावेगा ।—त० च० पृ० १० ।

उत्तरपक्ष ३—इस प्रश्नका समाधान करते हुए प्रथम उत्तरमें ही हम यह बतला आये हैं कि संसारो आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिपरिभ्रमणमें द्रव्यकर्मका उदय निमित्त मात्र है । विकारभाव और चतुर्गति-परिभ्रमणका मुख्यकर्ता तो स्वयं आत्मा ही है । इत तथ्यको पुष्टिमें हमने समयसार, पंचास्तिकायटीका, प्रवचनसार और उसकी टीकाके अनेक प्रमाण दिये हैं । किन्तु अपर पक्ष इस उत्तरको अपने प्रश्नका समाधान

माननेके लिये तैयार नहीं प्रतीत होता। एक ओर तो वह द्रव्यकर्मके उदयको निमित्त रूपसे स्वीकार करता है और दूसरी ओर द्रव्यकर्मोदय और संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिपरिभ्रमणमें व्यवहारनयसे बतलाये गये निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धको अपने मूलप्रश्नका उत्तर नहीं मानता, इसका हमें आश्चर्य है। हमारे प्रथम उत्तरको लक्ष्यकर अपर पक्षकी ओरसे उपस्थित की गई प्रतिशंका २ के उत्तरमें भी हमारी ओरसे अपने प्रथम उत्तरमें निहित अभिप्रायकी ही पुष्टि की गई है।

तत्काल हमारे सामने द्वितीय उत्तरके आधारसे लिखी गई प्रतिशंका ३ विचारके लिए उपस्थित है। इस द्वारा सर्वप्रथम यह शिकायत की गई है कि हमारी ओरसे अपर पक्षके मूलप्रश्नका उत्तर न तो प्रथम वक्तव्यमें ही दिया गया है और न ही इस दूसरे वक्तव्यमें दिया गया है। “संसारी जीवके विकारभाव और चतुर्गतिपरिभ्रमणमें कर्मोदय व्यवहारनयसे निमित्त मात्र है, मुख्यकर्त्ता नहीं” इस उत्तरको अपर पक्ष अप्रासंगिक मानता है। अब देखना यह है कि वस्तुस्वरूपको स्पष्ट करनेकी दृष्टिसे जो उत्तर हमारी ओरसे दिया गया है यह अप्रासंगिक है या अपर पक्षका यह कथन अप्रासंगिक ही नहीं, सिद्धान्तविरुद्ध है, जिसमें उसकी ओरसे विकारका कारण बाह्य सामग्री है, इसे यथार्थ कथन माना गया है।

अपर पक्षने पद्मनन्दिपंचविंशतिका २३-७ का “द्रव्यकृतो लोके विकारो भवेत्” इस वचनको उद्धृत कर जो विकारको दो का कार्य बतलाया है सो यहाँ देखना यह है कि जो विकाररूप कार्य होता है वह किसी एक द्रव्यकी विभावपरिणति है या दो द्रव्योंकी मिलकर एक विभावपरिणति है? वह दो द्रव्योंकी मिलकर एक विभावपरिणति है यह तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि दो द्रव्य मिलकर एक कार्यको त्रिकालमें नहीं कर सकते। इसी बातको समयसार आत्मख्यातिटीकामें स्पष्ट करते हुए बतलाया है।

नोभौ परिणमतः खलु परिणामो नोभयोः प्रजायेत।

उभयोर्न परिणतिः स्याद्यदनेकमनेकमेव सदा ॥५३॥

—त० च० पृ० ३२

इन उद्धरणोंको यहाँ प्रस्तुत करनेका प्रयोजन

इन उद्धरणोंको यहाँ प्रस्तुत करनेका प्रयोजन यह है कि तत्त्वज्ञानसुओंको यह समझमें आ जाए कि पूर्व पक्षने अपने प्रश्नोंमें जो पूछा है उनका समाधान उत्तरपक्षके उत्तरसे नहीं होता। आगे इसी बातको स्पष्ट किया जा रहा है—

पूर्व पक्षके उद्धरणोंसे यह स्पष्ट होता है कि वह उत्तरपक्षसे यह पूछ रहा है कि द्रव्यकर्मका उदय संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमें निमित्त होता है या नहीं। स्वयं उत्तरपक्षने भी अपने तृतीय दौरके अनुच्छेदमें उस बातको स्वीकार किया है<sup>१</sup>। इसलिये उत्तरपक्षको अपना उत्तर या तो ऐसा देना चाहिए था कि द्रव्यकर्मका उदय संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें निमित्त होता है। अथवा ऐसा देना चाहिए था कि वह उसमें निमित्त नहीं होता है—संसारी आत्माका विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण द्रव्यकर्मके उदयके निमित्त हुए बिना अपने आप ही होता रहता है।

उत्तरपक्षने प्रश्नका उत्तर यह दिया है कि “द्रव्यकर्मके उदय और संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमें व्यवहारसे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्तृ-कर्म सम्बन्ध नहीं है।” त० च० पृ० १।

इस उत्तरमें “व्यवहारसे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है” इस कथनका आशय यह होता है कि

१. एक ओर तो वह द्रव्यकर्मके उदयको निमित्तरूपसे स्वीकार करता है।—त० च० पृ० ३२।

द्रव्यकर्मके उदय और संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमें स्वीकृत निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध व्यवहारनयका विषय है। स्वयं उत्तरपक्षने भी अपने तृतीय दौरके अनुच्छेद १ में यह स्वीकार किया है<sup>१</sup>। परन्तु पूर्वपक्षने अपने प्रश्नमें यह नहीं पूछा है कि द्रव्यकर्मके उदय और संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमें स्वीकृत निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध व्यवहारनयका विषय है या निश्चयनयका। अथवा यह नहीं पूछा है कि उक्त निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध व्यवहारसे है या निश्चयसे। पूर्वपक्षका प्रश्न तो यह है कि द्रव्यकर्मके उदयसे संसारी आत्माका विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण होता है या नहीं ( त० च० पृ० १ )। इसका आशय यह होता है कि द्रव्यकर्मका उदय संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें निमित्त होता है या नहीं। अथवा यह आशय होता है कि द्रव्यकर्मके उदय और संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध विद्यमान है या नहीं। प्रश्नका स्पष्ट आशय यह होता है कि द्रव्यकर्मका उदय संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें निमित्त रूपसे कार्यकारी होता है या वह वहाँपर उस रूपमें सर्वथा अकिञ्चित्कर ही बना रहता है और संसारी आत्मा द्रव्यकर्मोदयके निमित्त हुए बिना अपने आप ही विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणरूप परिणमन करता रहता है।

यतः उत्तरपक्ष द्वारा दिये गये उक्त उत्तरसे उक्त प्रश्नका उपर्युक्त प्रकार समाधान नहीं होता, अतः निर्णीत होता है कि उत्तरपक्ष द्वारा दिया गया उत्तर पूर्वपक्षके प्रश्नका उत्तर नहीं है।  
उत्तर प्रश्नके बाहर भी है

उत्तरपक्षने अपने उत्तरमें यह अतिरिक्त बात भी जोड़ दी है कि द्रव्यकर्मके उदय और संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमें कर्तृ-कर्म सम्बन्ध नहीं है, जिसका प्रश्नके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्षने अपने प्रश्नमें उनके मध्य कर्तृ-कर्म सम्बन्ध होने या न होनेकी चर्चा ही नहीं की है। इस तरह इससे भी निर्णीत होता है कि उत्तरपक्ष द्वारा दिया गया उत्तर पूर्वपक्षके प्रश्नका उत्तर नहीं है।  
उत्तर अप्रासंगिक है

यतः उपर्युक्त विवेचनके अनुसार उत्तरपक्ष द्वारा दिया गया उत्तर पूर्वपक्षके प्रश्नका उत्तर नहीं है अतः स्पष्ट हो जाता है कि उक्त उत्तर अप्रासंगिक है।  
उत्तर अनावश्यक है

एक बात यह भी है कि दोनों ही पक्ष उक्त-नैमित्तिक सम्बन्धको व्यवहारनयका विषय मानते हैं। उसमें दोनों पक्षोंके मध्य कोई विवाद ही नहीं है। इस बातको उत्तर पक्ष भी जानता है। अतः उसे अपने उत्तरमें उसका निर्देश करना अनावश्यक है।

यद्यपि इस विषयमें दोनों पक्षोंके मध्य यह विवाद है कि जहाँ उत्तरपक्ष व्यवहारनयके विषयको सर्वथा अभूतार्थ मानता है वहाँ पूर्वपक्ष उसे कथञ्चित् अभूतार्थ और कथञ्चित् भूतार्थ मानता है, परन्तु वह प्रकृत प्रश्नके विषयसे भिन्न होनेके कारण उसपर स्वतन्त्र रूपसे ही विचार करना संगत होगा। अतएव इस पर यथावश्यक आगे विचार किया जायगा।

दूसरी बात यह है कि द्रव्यकर्मके उदय और संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमें दोनों पक्ष कर्तृ-कर्म सम्बन्धको नहीं मानते हैं और मानते भी हैं तो उपचारसे मानते हैं। इस बातको भी

१. और दूसरी ओर द्रव्यकर्मोदय और संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमें व्यवहारनयसे बतलाये गये निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धको अपने मूल प्रश्नका उत्तर नहीं मानता, इसका हमें आश्चर्य है।—त० च० पृ० ३२।

उत्तरपक्ष जानता है। अतः उसके द्वारा उत्तरमें इसका निर्देश किया जाना भी अनावश्यक है।

यद्यपि इस विषयमें भी दोनों पक्षोंके मध्य यह विवाद है कि जहाँ उत्तरपक्ष उस उपचारको सर्वथा अभूतार्थ मानता है वहाँ पूर्वपक्ष उसे कथंचित् अभूतार्थ और कथंचित् भूतार्थ मानता है। इसपर भी यथावश्यक आगे विचार किया जायगा।

यतः प्रसंगवश प्रकृत विषयको लेकर दोनों पक्षोंके मध्य विद्यमान मतैक्य और मतभेदका स्पष्टीकरण किया जाना तत्त्वज्ञानसुओंकी सुविधाके लिए आवश्यक है अतः यहाँ उनके मतैक्य और मतभेदका स्पष्टीकरण किया जाता है।

### मतैक्यके विषय

१. दोनों ही पक्ष संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें द्रव्यकर्मके उदयको निमित्तकारण और संसारी आत्माको उपादानकारण मानते हैं।

२. दोनों ही पक्ष मानते हैं कि उक्त विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण उपादानकारणभूत संसारी आत्माका ही होता है। निमित्तकारणभूत उदयपर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्मका नहीं होता।

३. दोनों ही पक्षोंकी मान्यतामें उक्त कार्यका उपादानकारणभूत संसारी आत्मा यथार्थ कारण और मुख्य कर्ता है व निमित्तकारणभूत उदयपर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्म अयथार्थ कारण और उपचरित कर्ता है।

४. दोनों ही पक्षोंका कहना है कि उक्त कार्यके प्रति उपादानकारणभूत संसारी आत्मामें स्वीकृत उपादानकारणता, यथार्थकारणता और मुख्यकर्तृत्व निश्चयनयके विषय हैं और निमित्तकारणभूत उदयपर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्ममें स्वीकृत निमित्तकारणता, अयथार्थकारणता और उपचरितकर्तृत्व व्यवहारनयके विषय हैं।

### मतभेदके विषय

१. यद्यपि दोनों ही पक्ष प्रकृत कार्यके प्रति उपादानकारणरूपसे स्वीकृत संसारी आत्माको उस कार्यरूप परिणत होनेके आधारपर कार्यकारी मानते हैं, परन्तु जहाँ उत्तरपक्ष उसी कार्यके प्रति निमित्त कारणरूपसे स्वीकृत उदयपर्यायविशिष्ट द्रव्यकर्मको उस कार्यरूप परिणत न होने और उपादानकारणभूत संसारी आत्माकी उस कार्यरूप परिणतिमें सहायक भी न होनेके आधारपर सर्वथा अकिञ्चित्कर मानता है वहाँ पूर्वपक्ष उसे वहाँपर उस कार्यरूप परिणत न होनेके आधारपर अकिञ्चित्कर और उपादानकारणभूत संसारी आत्माको उस कार्यरूप परिणतिमें सहायक होनेके आधारपर कार्यकारी मानता है।

२. यद्यपि दोनों ही पक्ष प्रकृत कार्यके प्रति उपादानकारणरूपसे स्वीकृत संसारी आत्माको उस कार्यरूप परिणत होनेके आधारपर यथार्थकारण और मुख्य कर्ता मानते हैं, परन्तु जहाँ उत्तरपक्ष उसी कार्यके प्रति निमित्तकारणरूपसे स्वीकृत उदयपर्यायविशिष्ट द्रव्यकर्मको उस कार्यरूप परिणत न होने और उपादानकारणभूत संसारी आत्माकी उस कार्यरूप परिणतिमें सहायक भी न होनेके आधारपर अयथार्थकारण और उपचरितकर्ता मानता है वहाँ पूर्वपक्ष उसे वहाँपर उस कार्यरूप परिणत न होनेके साथ उपादानकारणभूत संसारी आत्माकी उस कार्यरूप परिणतिमें सहायक होनेके आधारपर अयथार्थ कारण और उपचरितकर्ता मानता है।

३. यद्यपि दोनों ही पक्ष प्रकृत कार्यके प्रति उपादानकारण, यथार्थकारण और मुख्यकर्ता रूपसे स्वीकृत संसारी आत्माको उस कार्यरूप परिणत होनेके आधारपर भूतार्थ मानते हैं, परन्तु जहाँ उत्तर पक्ष उसी कार्यके प्रति निमित्तकारण, अयथार्थकारण और उपचरित कर्ता रूपसे स्वीकृत उदयपर्याय विशिष्ट

द्रव्यकर्मको उस कार्यरूप परिणत न होने और संसारी आत्माकी उस कार्यरूप परिणतिमें सहायक भी न होनेके आधारपर सर्वथा अभूतार्थ मानता है वहाँ पूर्वपक्ष उसे वहाँ पर उस कार्यरूप परिणत न होनेके आधार पर अभूतार्थ और संसारी आत्माकी उस कार्यरूप परिणतिमें सहायक होनेके आधारपर भूतार्थ मानता है ।

४. यद्यपि दोनों ही पक्ष प्रकृत कार्यके प्रति उपादानकारण, यथार्थकारण और मुख्य कर्ता रूपसे स्वीकृत संसारी आत्माको उस कार्यरूप परिणत होनेके आधारपर भूतार्थ मानकर निश्चयनयका विषय मानते हैं, परन्तु जहाँ उत्तरपक्ष उसी कार्यके प्रति निमित्तकारण, यथार्थकारण और उपचरित कर्ता रूपसे स्वीकृत उदयपर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्मको उस कार्य रूप परिणत न होने और संसारी आत्माकी उस कार्य रूप परिणतिमें सहायक भी न होनेके आधार पर सर्वथा अभूतार्थ मानकर व्यवहारनयका विषय मानता है वहाँ पूर्वपक्ष उसे वहाँ पर उस कार्य रूप परिणत न होनेके आधार पर अभूतार्थ और संसारी आत्माकी उस कार्य रूप परिणतिमें सहायक होनेके आधारपर भूतार्थ मानकर व्यवहारनयका विषय मानता है ।

उपर्युक्त विवेचनका निष्कर्ष यह है कि संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणरूप कार्यके प्रति दोनों पक्षोंके मध्य न तो संसारी आत्माको उपादान कारण, यथार्थकारण और मुख्य कर्ता माननेके विषयमें विवाद है और न उसकी कार्यकारिता, भूतार्थता और निश्चयनय विषयताके विषयमें विवाद है । इसी तरह उसी कार्यके प्रति दोनों पक्षोंके मध्य न तो उदयपर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्मको निमित्त कारण, अय-यार्थ कारण और उपचरितकर्ता माननेके विषयमें विवाद है और न उसकी व्यवहारनयविषयताके विषयमें विवाद है । दोनों पक्षोंके मध्य विवाद केवल उक्त कार्यके प्रति उदयपर्यायविशिष्ट द्रव्यकर्मकी उत्तरपक्षको मान्य सर्वथा अकिंचित्करता और सर्वथा अभूतार्थता तथा पूर्व पक्षको मान्य कथंचित् अकिंचित्करता व कथंचित् कार्यकारिता तथा कथंचित् अभूतार्थता व कथंचित् भूतार्थताके विषयमें है ।

उपर्युक्त विवेचनके आधारपर दो विचारणीय बातें

उपर्युक्त विवेचनके आधार पर दो बातें विचारणीय हो जाती हैं । एक तो यह कि संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें दोनों पक्षों द्वारा निमित्तकारणरूपसे स्वीकृत उदयपर्यायविशिष्ट द्रव्यकर्म को पूर्वपक्षकी मान्यताके अनुसार उस कार्यरूप परिणत न होनेके आधार पर अकिंचित्कर और उपादान कारण-भूत संसारी आत्माकी उस कार्यरूप परिणतिमें सहायक होनेके आधारपर कार्यकारी माना जाए या उत्तरपक्षकी मान्यताके अनुसार उसे वहाँपर उस कार्य रूप परिणत न होने और उपादानकारणभूत संसारी आत्माकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक भी न होनेके आधारपर सर्वथा अकिंचित्कर माना जाय । और दूसरे यह कि उस उदयपर्यायविशिष्ट द्रव्यकर्मको पूर्व पक्षकी मान्यताके अनुसार उपर्युक्त प्रकारसे कथंचित् अकिंचित्कर व कथंचित् कार्यकारी मानकर उस रूपमें कथंचित् अभूतार्थ और अथंचित् भूतार्थ माना जाय, व इस तरह उसे अभूतार्थ और भूतार्थरूपमें व्यवहारनयका विषय माना जाए या उत्तरपक्षकी मान्यताके अनुसार उसे वहाँपर उपर्युक्त प्रकार सर्वथा अकिंचित्कर मानकर उस रूपमें सर्वथा अभूतार्थ माना जाए व इस तरह उसे सर्वथा अभूतार्थ रूपमें व्यवहारनयका विषय माना जाए ।

उपर्युक्त दोनों बातोंमेंसे प्रथम बातके सम्बन्धमें विचार करनेके उद्देश्यसे ही खानिया तत्त्वचर्चाके अवसरपर दोनों पक्षोंकी सहमतिपूर्वक उपर्युक्त प्रथम प्रश्न उपस्थित किया गया था । इतना ही नहीं, खानिया तत्त्वचर्चाके सभी १७ प्रश्न उभयपक्षकी सहमति पूर्वक ही चर्चाके लिये प्रस्तुत किये गये थे ।

यहाँ प्रसंगवश मैं इतना संकेत कर देना उचित समझता हूँ कि तत्त्वचर्चाकी भूमिका तैयार करनेके

अवसरपर पं० फूलचन्द्रजीने मेरे समक्ष एक प्रस्ताव इस आशयका रखा था कि चर्चाके लिए जितने प्रश्न उपस्थित किये जायेंगे वे सब उभय पक्षकी सहमतिसे ही उपस्थित किये जायेंगे और उपस्थित सभी प्रश्नोंपर दोनों पक्ष प्रथमतः अपने-अपने विचार आगमके समर्थन पूर्वक एक दूसरे पक्षके समक्ष प्रस्तुत करेंगे तथा दोनों ही पक्ष एक दूसरे पक्षके समक्ष रखे गये उन विचारोंपर आगमके आधारपर ही अपनी आलोचनाएँ एक दूसरे पक्षके समक्ष प्रस्तुत करेंगे और अन्तमें दोनों ही पक्ष उन आलोचनाओंका उत्तर भी आगमसे प्रमाणित करते हुए एक दूसरे पक्षके समक्ष प्रस्तुत करेंगे ।

यद्यपि पं० फूलचन्द्रजीके इस प्रस्तावको मैंने सहर्ष तत्काल स्वीकार कर लिया था, परन्तु चर्चाके अवसरपर पं० फूलचन्द्रजी सोनगढ़के प्रतिनिधि नेमिचन्द्रजी पाटनीके दुराग्रहके सामने झुककर अपने उक्त प्रस्तावको रचनात्मक रूप देनेके लिए तैयार नहीं हुए । इसका परिणाम यह हुआ कि जो सभी प्रश्न उभय पक्ष सम्मत होकर दोनों पक्षोंको समान रूपसे विचारणीय थे, वे पूर्वपक्षके प्रश्न बनकर रह गये और उत्तर-पक्ष उनका समाधानकर्ता बन गया ।

यतः प्रश्नोंको प्रस्तुत करनेमें पूर्वपक्षने प्रमुख भूमिकाका निर्वाह किया था, अतः उसे एक तो पं० फूलचन्द्रजीके उक्त परिवर्तित रूपको देखकर उसको दृष्टिसे ओझल कर देना पड़ा और दूसरी बात यह भी थी कि उसके सामने तत्त्वनिर्णयका उद्देश्य प्रमुख था व उसको अणु मात्र भी यह कल्पना नहीं थी कि उत्तर-पक्ष पूर्वपक्षकी इस सहनशीलताका दुरुपयोग करेगा । परन्तु तत्त्वचर्चा अध्ययनसे यह स्पष्ट होता है कि उत्तर-पक्षने पूर्वपक्षकी सहनशीलताका तत्त्वचर्चामें अधिकसे अधिक दुरुपयोग किया है । यह बात तत्त्वचर्चाकी इस समीक्षासे भी ज्ञात हो जायगी ।

### समीक्षा लिखनेमें हेतु

यतः उभय पक्ष सम्मत वे सभी प्रश्न उपयुक्त प्रकार पूर्वपक्षके प्रश्न बन गये और उत्तरपक्ष उनका समाधानकर्ता । अतः इस समीक्षाका लिखना तत्त्वनिर्णय करनेकी दृष्टिसे आवश्यक हो गया है । एक बात और है कि पं० फूलचन्द्रजीके प्रस्तावके अनुसार दोनों पक्ष प्रत्येक प्रश्नपर यदि अपने-अपने विचार प्रस्तुत करते तो दोनों पक्षोंकी अन्तिम सामग्री एक-दूसरे पक्षकी समालोचनासे अछूती रहती । और इस तरह दोनों पक्षोंकी अन्तिम सामग्रीपर मतभेद रहनेपर तत्त्वनिर्णय करनेका अधिकार तत्त्वजिज्ञासुओंको प्राप्त होता । परन्तु जिस रूपमें तत्त्वचर्चा सामने है उसमें अन्तिम उत्तर उत्तरपक्षका होनेसे तत्त्वजिज्ञासुओंको तत्त्वनिर्णय कर लेना सम्भव नहीं रह गया है । इस दृष्टिसे भी इस समीक्षाको उपयोगिता बढ़ गई है ।

### उत्तरपक्ष द्वारा अपने उत्तरमें विपरीत परिस्थितियोंका निर्माण

पूर्वमें बतलाया जा चुका है कि प्रकृत प्रश्नको प्रस्तुत करनेमें पूर्वपक्षका आशय इस बातको निर्णय करनेका था कि द्रव्यकर्मका उदय संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें निमित्त रूपसे अर्थात् सहायक होने रूपसे कार्यकारी होता है या वह वहाँ पर सर्वथा अकिञ्चित्कर ही बना रहता है व संसारी आत्मा द्रव्यकर्मके उदयका सहयोग प्राप्त किये बिना अपने आप ही विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमण करता रहता है । उत्तरपक्ष प्रश्नको प्रस्तुत करनेमें पूर्वपक्षके इस आशयको समझता भी था, अन्यथा वह अपने तृतीय दौरके अनुच्छेदमें पूर्वपक्षके प्रति ऐसा क्यों लिखता कि "एक ओर तो वह द्रव्यकर्मके उदयको निमित्त रूपसे स्वीकार करता है ।" परन्तु जानते हुए भी उसने अपने प्रथम दौरमें, प्रश्नका उत्तर न देकर उससे भिन्न नयविषयता और कर्तृ-कर्म सम्बन्धकी अप्रासंगिक और अनावश्यक चर्चाको प्रारम्भ कर दिया । इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तरपक्षने अपने उत्तरमें विपरीत परिस्थितियोंका निर्माण किया है और

इसके कारण ही पूर्वपक्षको अपने तृतीय दौरके अनुच्छेदमें यह लिखना पड़ा कि 'आपके द्वारा इस प्रश्नका उत्तर न तो प्रथम वक्तव्यमें दिया गया है और न दूसरे वक्तव्यमें दिया गया है—यद्यपि आपके प्रथम वक्तव्यके ऊपर प्रतिशंका उपस्थित करते हुए इस ओर आपका ध्यान दिलाया गया था। आपने अपने दोनों वक्तव्योंमें निमित्त-कर्तृ-कर्म सम्बन्धकी अप्रासंगिक चर्चा प्रारम्भ करके मूल प्रश्नके उत्तरको टालनेका प्रयत्न किया है।

### उत्तरपक्षका पूर्वपक्षपर उल्टा आरोप

ऊपर किये गये स्पष्टीकरणसे यह ज्ञात हो जाता है कि उत्तरपक्षने अपने तृतीय दौरके अनु० २ में जो यह लिखा है कि 'वस्तुस्वरूपको स्पष्ट करनेकी दृष्टिसे जो उत्तर हमारी ओरसे दिया गया है वह अप्रासंगिक है या अपरपक्षका यह कथन अप्रासंगिक ही नहीं सिद्धान्तविरुद्ध है जिसमें उसकी ओरसे विकारका कारण बाह्य सामग्री है इसे यथार्थ कथन माना गया है।' सो उसका—उत्तरपक्षका ऐसा लिखना 'उल्टा चोर कोत-वालको डाँटे' जैसा ही है, क्योंकि उसने स्वयं तो पूर्वपक्षके प्रश्नका उत्तर न देकर नयविषयता और कर्तृ-कर्म सम्बन्धकी अप्रासंगिक और अनावश्यक चर्चा प्रारम्भ की, लेकिन अपनी इस त्रुटिको स्वीकार न कर उसने अप्रासंगिकताका उल्टा पूर्वपक्षपर ही आरोप लगाया। इससे यही स्पष्ट होता है कि उत्तरपक्षने पूर्वपक्षके प्रश्नका उत्तर देनेमें आनाकानी की है और इसे छिपानेके लिये ही उसने उक्त अप्रासंगिक और अनावश्यक चर्चा प्रारम्भ की। यही कारण है कि उसके इस प्रयत्नको पूर्वपक्षने अपने वक्तव्यमें मूल प्रश्नके उत्तरको टालनेका प्रयत्न कहा है। इसी तरह उत्तरपक्षने अपने उपर्युक्त वक्तव्यमें जो यह लिखा है कि 'विकारका कारण बाह्यसामग्री है इसे यथार्थ कथन माना गया है' सो यह भी पूर्वपक्षके ऊपर उत्तरपक्षका मिथ्या आरोप है, क्योंकि पूर्वपक्ष, जैसाकि पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है, विकारकी कारणभूत बाह्यसामग्रीको उत्तरपक्षके समान अयथार्थ कारण ही मानता है।

इस विषयमें दोनों पक्षोंके मध्य यह मतभेद अवश्य है कि जहाँ उत्तरपक्ष विकारकी कारणभूत उस बाह्यसामग्रीको वहाँ पूर्वोक्त प्रकार सर्वथा अकिञ्चित्कर रूपमें अयथार्थ कारण मानता है वहाँ पूर्वपक्ष उसे वहाँ पूर्वोक्तप्रकार ही कथञ्चित् अकिञ्चित्कर और कथञ्चित् कार्यकारी रूपमें अयथार्थ कारण मानता है। दोनों पक्षोंकी परस्पर विरोधी इन मान्यताओंमेंसे कौन-सी मान्यता आगमसम्मत है और कौन-सी आगमसम्मत नहीं है, इस पर आगे विचार किया जायगा।

इसी प्रकार उत्तरपक्षने अपने तृतीय दौरके अनु० ३ में पूर्वपक्ष द्वारा तृतीय दौरमें उद्धृत 'द्वयकृतो लोके विकारो भवेत्' इस आगमवाक्यको लेकर उसपर (पूर्वपक्षपर) मिथ्या आरोप लगानेके लिये लिखा है कि 'अपरपक्षने पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका २३-७ के 'द्वयकृतो लोके विकारो भवेत्' इस कथनको उद्धृत कर जो विकारको दो का कार्य बतलाया है सो वहाँ देखना यह है कि जो विकाररूप कार्य होता है वह किसी एक द्रव्यकी विभावपरिणति है या दो द्रव्योंकी मिलकर एक विभावपरिणति है? वह दो द्रव्योंकी मिलकर एक विभावपरिणति है यह तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि दो द्रव्य मिलकर एक कार्यको त्रिकालमें नहीं कर सकते।'

इस विषयमें मेरा कहना है और उत्तरपक्ष भी जानता है कि उक्त आगमवाक्यका यह अभिप्राय नहीं है कि दो द्रव्योंकी मिलकर एक विभावपरिणति होती है, अपितु उसका अभिप्राय यही है कि एक वस्तुकी विकारी परिणति दूसरी अनुकूल वस्तुका सहयोग मिलनेपर ही होती है व पूर्वपक्षने इसी आशयसे उक्त आगम-वाक्यको अपने वक्तव्यमें उद्धृत किया है, दो द्रव्योंकी मिलकर एक विभावपरिणति होती है, इस आशयसे नहीं। इस तरह उत्तरपक्षका पूर्वपक्षपर यह आरोप लगाना भी मिथ्या है।

जान पड़ता है कि उत्तरपक्ष पूर्वपक्षपर उक्त प्रकारका मिथ्या आरोप लगानेकी दृष्टिसे ही उक्त आगमवाक्यका यह अभिप्राय लेना चाहता है कि दो द्रव्योंकी मिलकर एक विभावपरिणति होती है। इस तरह कहना चाहिए कि उत्तरपक्षकी यह वृत्ति उस व्यक्तिके समान है जो दूसरेको अपशकुन करनेके लिये अपनी आँख फोड़नेका प्रयत्न करता है।

अन्तमें मैं कहना चाहता हूँ कि तत्त्वफलित करनेकी दृष्टिसेकी जानेवाली इस तत्त्वचर्चामें ऐसे सारहीन और अनुचित प्रयत्न करना उत्तरपक्षके लिये शोभास्पद नहीं है। किन्तु उसने ऐसे प्रयत्न तत्त्वचर्चामें स्थान-स्थानपर किये हैं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि उत्तरपक्षने अपने इसप्रकारके प्रयत्नों द्वारा पूर्वपक्षको उलझा देना ही अपने लिये श्रेयस्कर समझ लिया था।

उत्तरपक्षके इस तरहके प्रयत्नोंका एक परिणाम यह हुआ है कि खानिया तत्त्वचर्चा तत्त्वचर्चा न रहकर केवल वितण्डावाद बन गई है और वह इतनी विशालकाय हो गई है कि उसमेंसे तत्त्व फलित कर लेना विद्वानोंके लिए भी सरल नहीं है।

यद्यपि पूर्वपक्षने अपने वक्तव्योंमें शक्ति भर यह प्रयत्न किया है कि खानिया तत्त्वचर्चा तत्त्व फलित करने तक ही सीमित रहे। परन्तु इस विषयमें उत्तरपक्षका सहयोग नहीं मिल सका, यह खेदकी बात है।

वास्तविक बात यह है कि इस तत्त्वचर्चामें उत्तरपक्षने अपनी एक ही दृष्टि बना ली थी कि जिस किसी प्रकारसे अपने पक्षको विजयी बनाया जावे। इसलिए उसके आदिसे अन्त तकके सभी प्रयत्न केवल अपने उक्त उद्देश्यकी पूर्तिके लिए ही हुए हैं।

यहाँपर मैं एक बात यह भी कह देना चाहता हूँ कि उत्तरपक्षने अपने पक्षके समर्थनमें जिस आगमकी पग-पगपर दुहाई दी है उसका उसने बहुतसे स्थानोंपर साभिप्राय अनर्थ भी किया है। जैसा कि पूर्वमें बतलाया जा चुका है कि पद्मनन्दि पंचविंशतिका २३-७ का उसने पूर्वपक्षका मिथ्या विरोध करनेके लिए जान-बूझकर विपरीत अर्थ करनेका प्रयत्न किया है और इसी तरहके प्रयत्न उसने आगे भी किये हैं जिन्हें यथास्थान प्रकाशमें लाया जायगा।

## प्रश्नोत्तर २ की सामान्य समीक्षा

पूर्वपक्षका प्रश्न—जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म-अधर्म होता है या नहीं? त० च० पृ० ७६।

उत्तरपक्षका उत्तर—जीवित शरीरकी क्रिया पुद्गल द्रव्यकी पर्याय होनेके कारण उसका अजीव तत्त्वमें अन्तर्भाव होता है, इसलिए वह स्वयं जीवका न तो धर्मभाव है और न अधर्मभाव ही है। त० च० पृ० ७६।

प्रश्न प्रस्तुत करनेमें पूर्वपक्षका अभिप्राय—पूर्वपक्ष जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म और अधर्म मानता है। यतः उत्तरपक्ष जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म और अधर्म स्वीकार करनेके लिये तैयार नहीं है, अतः उसने उत्तरपक्षके समक्ष प्रकृत प्रश्न प्रस्तुत किया था।

जीवित शरीरकी क्रियासे पूर्वपक्षका आशय—जीवित शरीरकी क्रिया दो प्रकारकी होती है—एक तो जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रिया और दूसरी शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रिया। इन दोनोंमेंसे प्रकृतमें पूर्वपक्षको शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रिया ही विवक्षित है, जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रिया विवक्षित नहीं है। इसका कारण यह है कि धर्म और अधर्म ये दोनों जीवकी ही परिणतिर्या हैं और उनके सुख-दुःख रूप फलका भोक्ता भी जीव ही होता है। अतः जिस जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म और अधर्म होते हैं उसका कर्ता जीवको मानना ही युक्तिसंगत है, शरीरको नहीं।



उत्तरपक्षके त्तरपर विमर्ष—उत्तरपक्षने प्रश्नका जो उत्तर दिया है उससे उत्तरपक्षकी यह मान्यता ज्ञात होती है कि वह जीवित शरीरकी क्रियाको मात्र पुद्गलद्रव्यकी पर्याय मानकर उसका अजीव तत्त्वमें अन्तर्भाव करके उससे आत्मामें धर्म और अधर्म होनेका निषेध करता है। उत्तरपक्षकी इस मान्यतामें पूर्वपक्षकी जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रियाकी अपेक्षा तो कुछ विरोध नहीं है, परन्तु आत्मामें होनेवाले धर्म और अधर्मके प्रति पूर्वपक्ष द्वारा कारण रूपसे स्वीकृत शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियाकी अपेक्षा विरोध है। यदि उत्तरपक्ष पूर्वपक्षको मान्य शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रिया रूप जीवित शरीरकी क्रियाको स्वीकार न करे या स्वीकार करके भी उसको पुद्गल द्रव्यकी पर्याय मानकर अजीव तत्त्वमें अन्तर्भूत करे तथा उससे आत्मामें धर्म और अधर्मकी उत्पत्ति न माने तो उसको इस मान्यतासे पूर्वपक्ष सहमत नहीं है, क्योंकि चरणानुयोगका समस्त प्रतिपादन इस बातकी पुष्टि करता है कि शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रिया जीवित शरीरकी क्रिया है और पुद्गल द्रव्यकी पर्याय न होनेसे अजीव तत्त्वमें अन्तर्भूत न होकर जीवकी पर्याय होनेसे जीव तत्त्वमें अन्तर्भूत होती है तथा उससे आत्मामें धर्म और अधर्म उत्पन्न होते हैं।

उत्तरपक्षके समक्ष एक विचारणाय प्रश्न

उत्तरपक्ष यदि शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियाको स्वीकार न करे या स्वीकार करके भी उसे पुद्गल द्रव्यकी पर्याय मानकर उसका अजीव तत्त्वमें अन्तर्भाव करे तथा उसको आत्मामें होनेवाले धर्म और अधर्मके प्रति कारण न माने तो उसके समक्ष यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आत्मामें धर्म और अधर्मकी उत्पत्तिका आधार क्या है ? किन्तु पूर्वपक्षके समक्ष यह प्रश्न उपस्थित नहीं होता, क्योंकि वह शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियाको आत्मामें होनेवाले धर्म और अधर्मके प्रति कारण रूपसे आधार मानता है।

यदि उत्तरपक्ष यह कहे कि धर्म और अधर्मकी उत्पत्तिमें आत्माका पुरुषार्थ कारण है, तो वह पुरुषार्थ शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियासे भिन्न नहीं है। इसका विवेचन आगे किया जायेगा। इसके अलावा यदि वह यह कहे कि आत्मामें धर्म और अधर्म आत्माकी कार्याव्यवहितपूर्वक्षणवर्ती पर्यायरूप नियतिके अनुसार होते हैं तो इस प्रकारकी नियतिका निर्माण आत्माकी नित्य उपादान शक्ति (स्वाभाविक योग्यता) के आधारपर शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियारूप आत्मपुरुषार्थके बलपर ही होता है। इसका विशेष कथन प्रश्नोत्तर एककी समीक्षामें किया जा चुका है और आगे भी प्रकरणानुसार किया जायेगा।

प्रकृत विषयके सम्बन्धमें कतिपय आधारभूत सिद्धान्त

(१) धर्म और अधर्म दोनों जीवकी भाववती शक्तिके परिणमन हैं और शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप क्रिया उसकी (जीवकी) क्रियावती शक्तिका परिणमन है। और जीवकी क्रियावती शक्तिका यह प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप क्रियापरिणाम ही उसकी भाववती शक्तिके परिणमन स्वरूप धर्म और अधर्म में कारण होता है।

(२) प्रकृतमें 'जीवित शरीर' पदके अन्तर्गत 'शरीर' शब्दसे शरीरके अंगभूत द्रव्यमन, वचन (बोलनेका स्थान मुख) और शरीर इन तीनोंका ग्रहण विवक्षित है, क्योंकि जीवकी भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप धर्म और अधर्ममें जीवकी क्रियावती शक्तिका प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप जो क्रियारूप परिणाम कारण होता है वह शरीरके अंगभूत द्रव्यमन, वचन (मुख) और शरीर इन तीनोंमेंसे प्रत्येकके सहयोगसे अलग-अलग प्रकारका होता है तथा जीवकी क्रियावती शक्तिका वह क्रियापरिणाम यदि बाह्य पदार्थोंके प्रति प्रवृत्तिरूप होता है तो उसके सहयोगसे आत्माकी उस भाववती शक्तिका वह परिणमन अधर्म रूप होता है और यदि उसी क्रियावती शक्तिका वह क्रिया परिणमन बाह्य पदार्थोंके प्रति प्रवृत्तिसे निवृत्तिरूप होता है तो उसके सहयोगसे

आत्माकी उस भाववती शक्तिका वह परिणमन धर्मरूप होता है । इसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

जीव द्रव्यमनके सहयोगसे शुभ-अशुभ संकल्पके रूपमें प्रवृत्तिरूप या इस प्रकारकी प्रवृत्तिसे निवृत्तिरूप आत्म-व्यापार करता है, वचनके सहयोगसे शुभ-अशुभ बोलनेके रूपमें प्रवृत्तिरूप या इस प्रकारकी प्रवृत्तिसे निवृत्तिरूप आत्म-व्यापार करता है और शरीरके सहयोगसे शुभ-अशुभ हलन-चलनके रूपमें प्रवृत्तिरूप या उस प्रकारकी प्रवृत्तिसे निवृत्तिरूप आत्म-व्यापार करता है । द्रव्यमन, वचन और शरीरके सहयोगसे होने-वाला जीवका उक्त शुभ-अशुभ प्रवृत्तिरूप या उस प्रकारकी प्रवृत्तिसे निवृत्तिरूप आत्म-व्यापारका अपर नाम आत्म-पुरुषार्थ है और इसे ही जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमनके रूपमें जीवकी क्रियारूप जीवित शरीरकी क्रिया कहते हैं ।

(३) जीवका संसार, शरीर और भोगोंके प्रति अथवा हिंसा, झूठ, चोरी, भोग और संग्रह रूप पाँच पापोंके प्रति उक्त प्रकारका मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्तिरूप आत्म-व्यापार अशुभ कहलाता है व उसका देवपूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, संयम, तप, दान, अणुव्रत, महाव्रत, समिति आदिके प्रति मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्तिरूप आत्मव्यापार शुभ कहलाता है । तथा उसका इन मानसिक, वाचनिक और कायिक शुभ-अशुभ प्रवृत्तिरूप आत्मव्यापारोंसे मन, वचन और कायगुण्टियोंके रूपमें निवृत्तिरूप शुद्ध-आत्मव्यापार होता है ।

(४) शरीरके अंग-भूत द्रव्य मन, वचन और शरीरके सहयोगसे होनेवाले उक्त तीनों प्रकारके आत्म-व्यापारोंमेंसे शुभ और अशुभ प्रवृत्तिरूप दोनों प्रकारके आत्मव्यापारोंसे जीव यथायोग्य शुभ और अशुभ कर्मोंका बन्ध करता है व उक्त प्रकारकी प्रवृत्तिसे मनोगुण्टि, वचनगुण्टि, और कायगुण्टिके रूपमें निवृत्तिरूप आत्मव्यापारोंसे जीव उन कर्मोंका संवर और निर्जरण करता है । इस तरह बद्धकर्मोंके उदयसे जीवमें भाववती शक्तिके विभाव परिणामके रूपमें अधर्मभाव प्रगट होता है तथा बंधनेवाले कर्मोंके बन्धमें रुकावटरूप संवर और बद्ध कर्मोंके उपशम, क्षय और क्षयोपशमरूप निर्जरणसे जीवमें भाववती शक्तिके स्वभावपरिणमनके रूपमें धर्मभाव प्रगट होता है ।

यहाँपर यह ज्ञातव्य है कि जब तक प्रथम गुणस्थानमें विद्यमान जीव केवल अशुभ प्रवृत्ति करता है तब तक वह यथायोग्य कर्मोंका बन्ध ही करता है । तथा प्रथम, द्वितीय और तृतीय गुणस्थानोंमें विद्यमान जीव जो अशुभ प्रवृत्तिके साथ शुभ प्रवृत्ति करते हैं वे भी यथायोग्य कर्मोंका बन्ध ही करते हैं । इतना ही नहीं, यदि कदाचित् कोई मिथ्यादृष्टि भव्य या अभव्य जीव आसक्तिवश होनेवाली अशुभ प्रवृत्तिका सर्वथा त्याग कर अशक्तिवश होनेवाली अशुभ प्रवृत्तिके साथ शुभ प्रवृत्ति करने लगा हो तो वह भी कर्मोंका बन्ध ही करता है । इसके अतिरिक्त यदि कोई मिथ्यादृष्टि भव्य या अभव्य जीव कदाचित् आसक्तिवश होनेवाली अशुभप्रवृत्तिके सर्वथा त्याग पूर्वक अशक्तिवश होनेवाली अशुभ प्रवृत्तिका एकदेश या सर्वदेश त्याग कर देता है तथा यथावश्यक या किंचित् अनिवार्य अशक्तिवश होनेवाली अशुभ प्रवृत्तिके साथ प्रधानतया शुभ प्रवृत्ति करने लगता है तो वह भी कर्मोंका बन्ध ही करता है । लेकिन कोई बिरला मिथ्यादृष्टि भव्य जीव या सम्यग्-मिथ्यादृष्टि जीव आसक्तिवश होनेवाली अशुभ प्रवृत्तिके सर्वथा त्यागके आधारसे करणलब्धिके रूपमें आत्मोन्मुख हो जाता है तो वह यथायोग्य कर्मोंका संवर और निर्जरण भी करने लगता है व अशक्तिवश होनेवाली अशुभ प्रवृत्तिके साथ शुभ प्रवृत्ति करता हुआ कर्मोंका आस्रव और बन्ध भी करता है । इसी प्रकार आशक्तिवश होनेवाली अशुभप्रवृत्तिके सर्वथा त्याग पूर्वक आत्मोन्मुखताको प्राप्त प्रथम, तृतीय या चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव यदि अशक्तिवश होनेवाली अशुभ प्रवृत्तिका भी एक देश त्याग कर अपनी आत्मोन्मुखतामें वृद्धि कर लेता है तो

वह यथायोग्य कर्मके संवर और निर्जरणमें वृद्धि कर यथायोग्य रूपमें विद्यमान अशक्तिवश होनेवाली अशुभ प्रवृत्तिके साथ शुभ प्रवृत्तिके आधारपर कर्मका आस्रव और बन्ध करता है। इसी प्रकार आसक्तिवश होनेवाली अशुभ प्रवृत्तिके सर्वथा त्यागपूर्वक आत्मोन्मुखताको प्राप्त प्रथम, तृतीय, चतुर्थ या पंचम गुणस्थानवर्ती जीव यदि अशक्तिवश होनेवाली प्रवृत्तिका यथायोग्य सर्वदेश त्यागकर अपनी आत्मोन्मुखतामें और भी वृद्धि कर लेता है तो वह यथायोग्य कर्मके संवर और निर्जरणमें और भी वृद्धि करके यथायोग्य रूपमें विद्यमान अशक्तिवश होनेवाली अशुभ प्रवृत्तिके साथ शुभ प्रवृत्तिके आधारपर कर्मका आस्रव और बन्ध करता है। इसी तरह आसक्तिवश होनेवाली अशुभ प्रवृत्तिके सर्वथा त्यागपूर्वक आत्मोन्मुखताको प्राप्त प्रथम, तृतीय, चतुर्थ, पंचम या षष्ठ गुणस्थानवर्ती जीव यदि अशक्तिवश होनेवाली अशुभ प्रवृत्तिका सर्वथा त्यागकर अपनी आत्मोन्मुखतामें और भी वृद्धि कर लेता है तो वह यथायोग्य कर्मके संवर और निर्जरणमें और भी वृद्धि करके क्रमशः सप्तम, अष्टम, नवम और दशम गुणस्थानोंमें पहुँचकर केवल आभ्यन्तर शुभ प्रवृत्तिके आधारपर कर्मका आस्रव और बन्ध करता है। इसी तरह ऐसा दशम गुणस्थानवर्ती जीव अन्तमें अपनी शुभ पुरुषार्थरूप प्रवृत्तिको भी समाप्त कर यथायोग्य आत्मोन्मुखताकी पूर्णताको प्राप्त होकर संवर और निर्जरणमें वृद्धि कर एकादश या द्वादश गुणस्थानमें और द्वादश गुणस्थानके पश्चात् त्रयोदश गुणस्थानमें केवल मानसिक, वाचनिक और कायिक योगप्रवृत्तिके आधारपर मात्र सातावेदनीय कर्मका केवल प्रकृति और प्रदेश बन्धके रूपमें आस्रव और बन्ध करने लग जाता है और त्रयोदश गुणस्थानवर्ती जीवकी जब उक्त योगप्रवृत्ति भी समाप्त हो जाती है तो वह चतुर्दश गुणस्थानके प्रारम्भमें पूर्ण संवरको प्राप्त कर तथा अन्त समयमें शेष विद्यमान अघातिया कर्मोंका भी क्षयके रूपमें पूर्ण निर्जरण करके नोकर्मोंसे सर्वथा सम्बन्ध समाप्त कर सिद्ध पदवीको प्राप्त हो जाता है।

इस विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जीव अपनी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप शुभ-अशुभ प्रवृत्तिरूप जीवित-शरीरकी क्रियाके आधारसे अपनी भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप विभावरूप अधर्मभावको प्राप्त होता है और अपनी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप शुभ-अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिरूप जीवित शरीरकी क्रियाके आधारसे वह अपनी भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप स्वभावरूप धर्मभावको प्राप्त होता है।

इस विवेचनके आधारसे उत्तरपक्ष यदि कदाचित् प्रकृत विषय सम्बन्धी आगमके अभिप्रायको समझनेकी चेष्टा करे, तो मुझे विश्वास है कि वह पूर्वपक्षकी इस मान्यताको नियमसे स्वीकार कर लेगा कि शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियारूप जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म-अधर्म होता है।

### प्रश्नोत्तर ३ की सामान्य समीक्षा

पूर्वपक्षका प्रश्न—जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है क्या ?—त० च० पृ० ९३।

उत्तरपक्षका उत्तर—(क) इस प्रश्नमें यदि ‘धर्म’ पदका अर्थ पुण्यभाव है तो जीवदयाको पुण्यभाव मानना मिथ्यात्व नहीं है, क्योंकि जीवदयाकी परिगणना शुभपरिणामोंमें की गई है और शुभ परिणामको आगममें पुण्यभाव माना है।—त० च० पृ० ९३।

(ख) यदि इस प्रश्नमें ‘धर्म’ पदका अर्थ वीतराग परिणति लिया जाये तो जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है, क्योंकि जीवदया पुण्यभाव होनेके कारण उसका आस्रव और बन्धतत्त्वमें अन्तर्भाव होता है, संवर और निर्जरा तत्त्वमें अन्तर्भाव नहीं होता।—त० च० पृ० ९३।

जीवदयाके प्रकार

(१) जीवदयाका एक प्रकार पुण्यभाव रूप है। इसे आगमके आधारपर उत्तरपक्षके समान पूर्वपक्ष

भी मानता है तथा उत्तरपक्षके समान पूर्वपक्ष यह भी मानता है कि पुण्यभाव रूप होनेके कारण उसका अन्तर्भाव आस्रव और बन्धतत्त्वमें होता है, संवर और निर्जरामें अन्तर्भाव नहीं होता। इसके सम्बन्धमें दोनों पक्षोंमें इतना मतभेद अवश्य है कि जहाँ पूर्वपक्ष पुण्यभाव रूप जीवदयाको व्यवहारधर्म रूप जीव दयाकी उत्पत्तिमें कारण मानता है वहाँ उत्तरपक्ष इस बातको स्वीकार करनेके लिए तैयार नहीं है। पुण्यभाव रूप जीवदया व्यवहारधर्म रूप जीवदयाकी उत्पत्तिमें कारण होती है, इस बातको आगे स्पष्ट किया जायेगा।

(२) जीवदयाका दूसरा प्रकार जीवके शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मरूप है। इसकी पुष्टि पूर्वपक्षने अपने द्वितीय और तृतीय दौरोंमें धवल पुस्तक १३ के पृष्ठ ३६२ पर निर्दिष्ट निम्न वचनके आधार-पर की है—

“करुणाए जीवसहावस्स कम्मजणिदत्तविरोहादो”

अर्थ—करुणा जीवका स्वभाव है अतः इसके कर्मजनित होनेका विरोध है।

यद्यपि धवलाके इस वचनमें जीवदयाको जीवका स्वतःसिद्ध स्वभाव बतलाया है, परन्तु जीवके स्वतःसिद्ध स्वभावभूत वह जीवदया अनादिकालसे मोहनीय कर्मकी क्रोध प्रकृतियोंके उदयसे विकृत रहती आई है, अतः मोहनीय कर्मकी उन क्रोध प्रकृतियोंके यथास्थान यथायोग्य रूपमें होनेवाले उपशम, क्षय या क्षयोपशमसे जब वह शुद्ध रूपमें विकासको प्राप्त होती है तब उसे निश्चयधर्मरूपता प्राप्त हो जाती है। इसका अन्तर्भाव आस्रव और बन्धतत्त्वमें नहीं होता, क्योंकि जीवके शुद्धस्वभावभूत होनेके कारण वह कर्मके आस्रव और बन्धका कारण नहीं होती है। तथा इसका अन्तर्भाव संवर और निर्जरा तत्त्वमें भी नहीं होता, क्योंकि इसकी उत्पत्ति ही संवर और निर्जरापूर्वक होती है।

(३) जीवदयाका तीसरा प्रकार अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक होनेवाली दयारूप शुभ प्रवृत्तिके रूपमें व्यवहारधर्मरूप है। इसका समर्थन पूर्वपक्षने अपने द्वितीय और तृतीय दौरोंमें आगम प्रमाणोंके आधारपर किया है। इसका अन्तर्भाव अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिरूप होनेके आधारपर संवर और निर्जराका कारण होनेसे संवर और निर्जरा तत्त्वमें होता है व दयारूप पुण्यप्रवृत्तिरूप होनेके आधारपर आस्रव और बन्धका कारण होनेसे आस्रव और बन्धतत्त्वमें भी होता है। कर्मके संवर और निर्जरणमें कारण होनेसे यह व्यवहारधर्मरूप जीवदया जीवके शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्तिमें कारण सिद्ध होती है।

**पुण्यभूत दयाका विशेष स्पष्टीकरण**

भव्य और अभव्य दोनों प्रकारके जाव सतत विपरोताभिनिवेश और मिथ्याज्ञानपूर्वक आसक्तिवश अदयारूप संकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्ति करते रहते हैं। तथा कदाचित् संसारिक स्वार्थवश दयारूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति भी किया करते हैं। ये जीव यदि कदाचित् अदयारूप संकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्तिके साथ सम्यक् अभिनिवेश और सम्यग्ज्ञानपूर्वक कर्तव्यवश दयारूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति करने लगते हैं तो उनके अन्तःकरणमें उस अदयारूप संकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे घृणा उत्पन्न हो जाती है और तब वे उस अदयारूप संकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं। इस तरह वह पुण्यभावरूप जीवदया अदयारूप संकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वथा निवृत्तिपूर्वक होनेवाली दयारूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिरूप व्यवहार धर्मकी उत्पत्तिमें कारण सिद्ध होती है।

### निश्चयधर्मरूप जीवदयाका विशेष स्पष्टीकरण

निश्चयधर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्ति भव्य जीवमें ही होती है, अभव्य जीवमें नहीं। तथा उस भव्य-जीवमें उसकी उत्पत्ति मोहनीय कर्मके भेद अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन-रूप कषायोंकी क्रोध प्रकृतियोंका यथास्थान यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम होनेपर शुद्ध स्वभावके रूपमें उत्तरोत्तर प्रकर्षको लेकर होती है। इसकी प्रतिक्रिया निम्न प्रकार है :—

(क) अभव्य और भव्य दोनों प्रकारके जीवोंकी भाववती शक्तिका अनादिकालसे अनन्तानुबन्धी आदि उक्त चारों कषायोंकी क्रोध प्रकृतियोंके सामूहिक उदयपूर्वक अदयारूप विभावपरिणमन होता आया है। दोनों प्रकारके जीवोंमें उस अदयारूप विभावपरिणमनकी समाप्तिमें कारणभूत क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोंके विकासकी योग्यता स्वभावतः विद्यमान है। भव्य जीवोंमें तो उस अदयारूप विभाव परिणतिकी समाप्तिमें अनिवार्यकारणभूत आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिके विकासकी योग्यता भी स्वभावतः विद्यमान है। इस तरह जिस भव्य जीवमें जब क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोंका विकास हो जानेपर उक्त करणलब्धिका भी विकास हो जाता है तब सर्वप्रथम उस करणलब्धिके बलसे उस भव्य जीवमें मोहनीय कर्मके भेद दर्शनमोहनीय कर्मकी यथासम्भवरूपमें विद्यमान मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्-प्रकृतिरूप तीन प्रकृतियोंका व चारित्रमोहनीयकर्मके प्रथम भेद अनन्तानुबन्धी कषायकी नियमसे विद्यमान मान, माया और लोभ प्रकृतियोंके साथ क्रोध प्रकृतिका भी यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम होनेपर चतुर्थ गुणस्थानके प्रथम समयमें उसको उस भाववती शक्तिका शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मके रूपमें एक प्रकारकी जीवदयारूप परिणमन होता है।

(ख) इसके पश्चात् उस भव्य जीवमें यदि उस आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिका विशेष उत्कर्ष हो जावे तो उसके बलसे उसमें चारित्रमोहनीय कर्मके द्वितीय भेद अप्रत्याख्यानावरण कषायकी नियमसे विद्यमान मान, माया और लोभ प्रकृतियोंके साथ क्रोध प्रकृतिका भी क्षयोपशम होनेपर पंचमगुणस्थानके प्रथम समयमें उसको उस भाववती शक्तिका शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मके रूपमें दूसरे प्रकारकी जीवदयारूप परिणमन होता है।

(ग) इसके भी पश्चात् उस भव्य जीवमें यदि आत्मोन्मुखता रूप करणलब्धिका और विशेष उत्कर्ष हो जावे तो उसके बलसे उसमें चारित्रमोहनीयकर्मके तृतीय भेद प्रत्याख्यानावरण कषायकी नियमसे विद्यमान मान, माया और लोभ प्रकृतियोंके साथ क्रोध प्रकृतिका भी क्षयोपशम होनेपर सप्तम गुणस्थानके प्रथम समयमें उसकी उस भाववती शक्तिका शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मके रूपमें तीसरे प्रकारकी जीवदयारूप परिणमन होता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि सप्तम गुणस्थानको प्राप्त जीव सतत सप्तमसे षष्ठ और षष्ठसे सप्तम दोनों गुणस्थानोंमें अन्तर्मुहूर्त कालके अन्तरालसे झूलेकी तरह झूलता रहता है।

(घ) उक्त प्रकार सप्तमसे षष्ठ और षष्ठसे सप्तम दोनों गुणस्थानोंमें झूलते हुये उस जीवमें यदि सप्तमगुणस्थानसे पूर्व ही दर्शनमोहनीय कर्मकी उक्त तीन और चारित्रमोहनीय कर्मके प्रथम भेद अनन्तानुबन्धी कषायकी उक्त चार इन सात प्रकृतियोंका उपशम या क्षय हो चुका हो अथवा सप्तम गुणस्थानमें ही उनका उपशम या क्षय हो जावे तो उसके पश्चात् वह जीव उस आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिका सप्तम, अष्टम और नवम गुणस्थानोंमें क्रमशः अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणके रूपमें और भी विशेष उत्कर्ष प्राप्त कर लेता है और तब नवम गुणस्थानमें ही उस जीवमें चारित्रमोहनीय कर्मके उक्त द्वितीय और तृतीय भेदरूप अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायोंकी क्रोध प्रकृतियोंके साथ चारित्रमोहनीयकर्मके ही चतुर्थ

भेद संज्वलन कषायकी क्रोध प्रकृतिका भी उपशम या क्षय होनेपर उस जीवकी उस भाववती शक्तिका शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मके रूपमें चौथे प्रकारकी जीवदयारूप परिणमन होता है ।

इस विवेचनका तात्पर्य यह है कि यद्यपि भव्य और अभव्य दोनों प्रकारके जीवोंकी भाववती शक्तिका अनादिकालसे चारित्रमोहनीयकर्मके भेद अनन्तानुबन्धी आदि चारों कषायोंकी क्रोध प्रकृतियोंके सामूहिक उदयपूर्वक अदयारूप विभावपरिणमन होता है, परन्तु जब जिस भव्य जीवकी उस भाववती शक्तिका वह अदयारूप विभावपरिणमन यथास्थान उस-उस क्रोध प्रकृतिका यथासम्भव उपशम, क्षय या क्षयोपशम होनेपर यथायोग्यरूपमें समाप्त होता जाता है तब उसके बलसे उस जीवकी उस भाववतीशक्तिका उत्तरोत्तर विशेषता लिये हुये शुद्ध स्वभावरूप निश्चयधर्मके रूपमें दयारूप परिणमन भी होता जाता है । इतना अवश्य है कि उन उन क्रोध प्रकृतियोंका यथास्थान यथायोग्यरूपमें होनेवाला वह उपशम, क्षय या क्षयोपशम उस भव्य जीवमें क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोंके विकासपूर्वक आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिका विकास होनेपर ही होता है ।

### व्यवहारधर्मरूप जीवदयाका विशेष स्पष्टीकरण

भव्य जीवमें उपर्युक्त पाँचों लब्धियोंका विकास तब होता है जब वह जीव अपनी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप मानसिक, वाचनिक और कायिक दयारूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्तियोंको क्रियावती शक्तिके ही परिणमनस्वरूप मानसिक, वाचनिक और कायिक अदयारूप संकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्तियोंसे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमें सर्वथा निवृत्तिपूर्वक करने लगता है । इन अदयारूप संकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्तियोंसे सर्वथा निवृत्तिपूर्वककी जानेवाली दयारूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिका नाम ही व्यवहारधर्मरूप दया है । इस तरह यह निर्णय है कि जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमन स्वरूप व्यवहारधर्मरूप जीवदयाके बलपर ही भव्य जीवमें भाववती शक्तिके परिणमन स्वरूप निश्चयधर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्तिमें कारणभूत क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करणलब्धियोंका विकास होता है । इस तरह निश्चयधर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्तिमें व्यवहारधर्मरूप जीवदया कारण सिद्ध होती है ।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि कोई-कोई अभव्य जीव भी इस व्यवहारधर्मरूप दयाको अंगीकार करके अपनेमें क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोंका विकास कर लेता है । इतना अवश्य है कि उसकी स्वभावभूत अभव्यताके कारण उसमें आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिका विकास नहीं होता है । इस तरह उसमें भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप निश्चयधर्मरूप जीवदयाका विकास भी नहीं होता है । यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि भव्य जीवमें उक्त क्रोध प्रकृतियोंका यथासम्भव रूपमें होनेवाला वह उपशम, क्षय या क्षयोपशम यद्यपि आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिका विकास होनेपर ही होता है, परन्तु उसमें उस करणलब्धिका विकास क्रमशः क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य इन चारों लब्धियोंका विकास होनेपर ही होता है । अतः इन चारों लब्धियोंको भी उक्त क्रोध प्रकृतियोंके यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशममें कारण माना गया है ।

### जीवकी भाववती और क्रियावती शक्तियोंके सामान्य परिणमनोंका विवेचन

जीवकी भाववती और क्रियावती दोनों शक्तियोंको प्रश्नोत्तर २ की समीक्षामें उसके स्वतःसिद्ध स्वभावके रूपमें बतलाया गया है । इनमेंसे भाववतीशक्तिके परिणमन एक प्रकारसे तो मोहनीयकर्मके उदयमें विभावरूप व उसके उपशम, क्षय या क्षयोपशममें शुद्ध स्वभावरूप होते हैं व दूसरे प्रकारसे हृदयके सहारेपर तत्त्वश्रद्धानरूप या अतत्त्वश्रद्धानरूप और मस्तिष्कके सहारेपर तत्त्वज्ञानरूप या अतत्त्वज्ञानरूप होते हैं ।

एवं क्रियावती शक्तिके परिणमन संसारावस्थामें एक प्रकारसे तो मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय शुभ और पापमय अशुभ प्रवृत्तिरूप होते हैं। दूसरे प्रकारसे पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमें निवृत्तिपूर्वक मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिरूप होते हैं और तीसरे प्रकारसे सक्रिय मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और कायवर्गणाके सहारेपर पुण्यरूपता और पापरूपतासे रहित आत्मक्रियाके रूपमें होते हैं। इनके अतिरिक्त संसारका विच्छेद हो जानेपर जीवकी क्रियावती शक्तिका चौथे प्रकारसे जो परिणमन होता है वह स्वभावतः उर्ध्वगमनरूप होता है। जीवकी क्रियावती शक्तिके इन चारों प्रकारसे होनेवाले परिणमनोंमेंसे पहले प्रकारके परिणमन कर्मोंके आस्रवपूर्वक प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागरूप चारों प्रकारके बन्धमें कारण होते हैं। दूसरे प्रकारके परिणमन पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिरूप होनेसे भव्यजीवमें यथायोग्य कर्मोंके संवरपूर्वक निर्जरणमें कारण होते हैं व पुण्यरूप शुभ प्रवृत्तिरूप होनेसे यथायोग्य कर्मोंके आस्रवपूर्वक प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागरूप चारों प्रकारके बन्धमें कारण होते हैं। तीसरे प्रकारके परिणमन पुण्यरूपता और पापरूपतासे रहित होनेसे केवल सातावेदनीय कर्मोंके आस्रवपूर्वक प्रकृति तथा प्रदेश बन्धमें कारण होते हैं और चौथे प्रकारका परिणमन केवल आत्माश्रित होनेसे कर्मोंके आस्रव और बन्धमें कारण नहीं होता है और कर्मोंके संवर और निर्जरणपूर्वक उन कर्मोंका सर्वथा अभाव हो जानेपर होनेसे उसके कर्मोंके संवर और निर्जरणका कारण होनेका तो प्रश्न ही नहीं रहता है।

### जीवकी क्रियावती शक्तिके प्रवृत्तिरूप परिणमनोंका विश्लेषण

जीवकी भाववती शक्तिके हृदयके सहारेपर अतत्त्वश्रद्धानरूप व मस्तिष्कके सहारेपर अतत्त्वज्ञानरूप जो परिणमन होते हैं उनसे प्रभावित होकर जीवकी क्रियावती शक्तिके आसक्तिवश मानसिक, वाचनिक और कायिक संकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्तिरूप परिणमन होते हैं। एवं कदाचित् संसारिक स्वार्थवश पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिरूप परिणमन भी होते हैं। इसी तरह जीवकी भाववती शक्तिके हृदयके सहारेपर तत्त्वश्रद्धानरूप और मस्तिष्कके सहारेपर तत्त्वज्ञानरूप जो परिणमन होते हैं उनसे प्रभावित होकर जीवकी क्रियावती शक्तिके एक तो अशक्तिवश मानसिक, वाचनिक और कायिक आरम्भी पापमय अशुभ प्रवृत्तिरूप परिणमन होते हैं और दूसरे कर्तव्यवश मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय शुभप्रवृत्तिरूप परिणमन होते हैं।

संसारी जीव आसक्ति, मोह, ममता तथा राग और द्वेषके वशीभूत होकर मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्तिरूप जो लोकविरुद्ध हिंसा, झूठ, चोरी तथा पदार्थोंके अनावश्यक भोग और संग्रह रूप क्रियायें सतत करता रहता है वे सभी क्रियायें संकल्पी पाप कहलाती हैं। इनमें सभी तरहकी स्वपरहितविघातक क्रियायें अन्तर्भूत होती हैं।

संसारी जीव अशक्ति, मजबूरी आदि अनिवार्य परिस्थितियोंवश मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्तिरूप जो लोकसम्मत हिंसा, झूठ, चोरी तथा आवश्यक भोग और संग्रहरूप क्रियायें करता है वे सभी क्रियायें आरम्भी पाप कहलाती हैं। इनमें जीवनका संचालन, कुटुम्बका भरण-पोषण तथा धर्म, संस्कृति, समाज, राष्ट्र और लोकका संरक्षण आदि उपयोगी कार्योंको सम्पन्न करनेके लिये नीतिपूर्वक की जानेवाली असि, मषि, कृषि, सेवा, शिल्प, वाणिज्य तथा अनिवार्य भोग और संग्रहरूप क्रियायें अन्तर्भूत होती हैं।

संसारी जीव जितनी परहितकारी मानसिक, वाचनिक और कायिक क्रियायें करता है वे सभी क्रियायें पुण्य कहलाती हैं। इस प्रकारकी पुण्यरूप क्रियायें दो प्रकारकी होती हैं—एक तो सांसारिक स्वार्थवशकी जानेवाली पुण्यरूप क्रिया और दूसरी कर्तव्यवशकी जानेवाली पुण्यरूप क्रिया। इनमेंसे कर्तव्यवशकी जानेवाली पुण्यरूप क्रिया ही वास्तविक पुण्यक्रिया है। ऐसी पुण्यक्रियासे ही परोपकार की सिद्धि होती है। इसके

अतिरिक्त वीतरागी देवकी आराधना, वीतरागताके पोषक शास्त्रोंका पठन-पाठन, चिन्तन और मनन व वीतरागताके मार्गपर आरूढ़ गुरुओंकी सेवा-भक्ति तथा स्वावलम्बन शक्तिको जागृत करनेवाले व्रताचरण और तपश्चरण आदि भी पुण्यक्रियाओंमें अन्तर्भूत होते हैं ।

यहाँ इतना विशेष ज्ञातव्य है कि उक्त आरम्भी पाप भी यदि आसक्ति आदिके वशीभूत होकर किये जाते हैं तथा पुण्य भी यदि अहंकार आदिके वशीभूत होकर किये जाते हैं तो उन्हें संकल्पी पाप ही जानना चाहिए ।

### संसारी जीवकी क्रियावती शक्तिके दया और अदया रूप परिणमनोंका विवेचन

ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि जीवकी भाववती शक्तिका चारित्रमोहनीय कर्मके भेद अनन्तानुबन्धी आदि चारों कषायोंकी क्रोध प्रकृतियोंके उदयमें अदयरूप विभाव परिणमन होता है व उन्हीं क्रोधप्रकृतियोंके यथास्थान यथासम्भव रूपमें होनेवाले उपशम, क्षय या क्षयोपशममें दयरूप स्वभाव परिणमन होता है । यहाँ जीवकी क्रियावती शक्तिके मानसिक, वाचनिक और कायिक परिणमनोंके विषयमें यह बतलाना है कि जीव द्वारा परहितकी भावनासे की जानेवाली क्रियायें पुण्यके रूपमें दया कहलाती हैं और जीव द्वारा परके अहितकी भावनासे की जानेवाली क्रियायें संकल्पी पापके रूपमें अदया कहलाती हैं । इनके अतिरिक्त जीवकी जिन क्रियाओंमें परके अहितकी भावना प्रेरक न होकर केवल स्वहितकी भावना प्रेरक हो, परन्तु जिनसे परका अहित होना निश्चित हो वे क्रियायें आरम्भी पापके रूपमें अदया कहलाती हैं । जैसे एक व्यक्ति द्वारा अनीतिपूर्वक दूसरे व्यक्तिपर आक्रमण करना संकल्पी पापरूप अदया है । परन्तु उस दूसरे व्यक्ति द्वारा आत्मरक्षार्थके लिये उस आक्रमण व्यक्तिपर प्रत्याक्रमण करना आरम्भी पापरूप अदया है ।

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि जीवकी पुण्यमय क्रिया संकल्पी पापमय क्रियाके साथ भी सम्भव है और आरम्भी पापमय क्रियाके साथ भी सम्भव है, परन्तु संकल्पी और आरम्भी दोनों पापरूप क्रियाओंमें जीवकी प्रवृत्ति एक साथ नहीं हो सकती है क्योंकि संकल्पी पापरूप क्रियाओंके साथ जो आरम्भी पापरूप क्रियायें देखनेमें आती हैं उन्हें वास्तवमें संकल्पी पापरूप क्रियायें ही मानना युक्तिसंगत है । इस तरह संकल्पी पापरूप क्रियाओंके सर्वथा त्यागपूर्वक जो आरम्भी पापरूप क्रियायें की जाती हैं उन्हें ही वास्तविक आरम्भी पापरूप क्रियायें समझना चाहिए ।

### व्यवहार धर्मरूप दयाका विश्लेषण और कार्य

ऊपर बतलाया जा चुका है कि जीव द्वारा मानसिक, वाचनिक और कायिक संकल्पीपापमय अदयरूप अशुभ क्रियाओंके साथ परहितकी भावनासे की जानेवाली मानसिक, वाचनिक और कायिक शुभ क्रियायें पुण्यके रूपमें दया कहलाती हैं और वे कर्मोंके आसव और बन्धका कारण होती हैं । परन्तु भव्य और अभव्य दोनों प्रकारके जीवों द्वारा कम-से-कम मानसिक, वाचनिक और कायिक संकल्पी पापमय अदयरूप अशुभ क्रियाओंसे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमें होनेवाली सर्वथा निवृत्तिपूर्वक जो मानसिक, वाचनिक और कायिक दयाके रूपमें पुण्यमय शुभ क्रियायें की जाने लगती हैं वे क्रियायें ही व्यवहारधर्मरूप दया कहलाती हैं । इसमें हेतु यह है कि उक्त संकल्पी पापमय अदयरूप अशुभ क्रियाओंसे निवृत्तिपूर्वक की जानेवाली पुण्यभूत दया भव्य और अभव्य दोनों प्रकारके जीवोंमें क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोंके विकासका कारण होती है तथा भव्य जीवमें तो वह इन लब्धियोंके विकासके साथ आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धि के विकासका भी कारण होती है जो करणलब्धि प्रथमतः मोहनीयकर्मके भेद दर्शनमोहनीय कर्मकी यथासंभव रूपमें विद्यमान मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृतिरूप तीन व मोहनीयकर्मके भेद चारित्र-



मोहनीयकर्मकी अनन्तानुबन्धी कषायरूप क्रोध, मान, माया और लोभरूप चार इस तरह सात प्रकृतियोंके यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशममें कारण होती है। इस तरह उक्त व्यवहारधर्मरूप दया भव्यजीवमें कर्मोंके संवर और निर्जरणमें कारण सिद्ध होती है। इतनी बात अवश्य है कि भव्यजीवकी उस व्यवहारधर्म-रूप दयामें जितना पुण्यमय दयारूप प्रवृत्तिका अंश विद्यमान रहता है वह तो कर्मोंके आस्रव और बन्धका ही कारण होता है तथा उस व्यवहारधर्मरूप दयाका संकल्पोपापमय अदयारूप प्रवृत्तिसे होनेवाली सर्वथा निवृत्तिका अंश कर्मोंके संवर और निर्जरणका कारण होता है। द्रव्यसंग्रह ग्रन्थकी गाथा ४५ में जो व्यवहारचारित्रका लक्षण निर्धारित किया गया है उसके आधारपर व्यवहारधर्मरूप दयाका स्वरूप स्पष्ट रूपसे समझमें आ जाता है। वह गाथा निम्न प्रकार है—

असुहादो विणिवित्ति सुहे पवित्ति य जाण चारित्तं ।  
वदसमिदिगुत्ति रूवं ववहारणया दु जिणभणियं ॥४५॥

अर्थ—अशुभसे निवृत्तिपूर्वक होनेवाली शुभमें प्रवृत्तिको जिन भगवानने व्यवहारचारित्र कहा है। ऐसा व्यवहारचारित्र व्रत, समिति और गुप्तिरूप होता है।

इस गाथामें व्रत, समिति और गुप्तिको व्यवहारचारित्र कहनेमें हेतु यह है कि इनमें अशुभसे निवृत्ति और शुभमें प्रवृत्तिका रूप पाया जाता है। इस तरह इस गाथासे निर्णीत हो जाता है कि जीव पुण्यरूप जीवदयाको जब तक पापरूप अदयके साथ करता है तब तक तो उस दयाका अन्तर्भाव पुण्यरूप दयामें होता है और वह जीव उक्त पुण्यरूप जीवदयाको जब पापरूप अदयासे निवृत्तिपूर्वक करने लग जाता है तब वह पुण्यभूत दया व्यवहारधर्मका रूप धारण कर लेती है, क्योंकि इस दयासे जहाँ एक ओर पुण्य-प्रवृत्तिरूपताके आधारपर कर्मोंका आस्रव और बन्ध होता है वहाँ दूसरी ओर उस दयासे पापप्रवृत्तिसे निवृत्तिरूपताके आधार-पर भव्य जीवमें कर्मोंका संवर और निर्जरण भी हुआ करता है। व्यवहारधर्मरूप दयासे कर्मोंका संवर और निर्जरण होता है इसकी पुष्टि आचार्य वीरसेनके द्वारा जयध्वलाके मंगलाचरणकी व्याख्यामें निर्दिष्ट निम्न वचनसे होती है—

“सुह-सुद्धपरिणामेहि कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो”

अर्थ—शुभ और शुद्धके रूपमें मिश्रित परिणामोंसे यदि कर्मक्षय नहीं होता हो तो कर्मक्षयका होना असंभव हो जायेगा।

आचार्य वीरसेनके वचनमें “सुह-सुद्धपरिणामेहि” पदका ग्राह्य अर्थ

आचार्य वीरसेनके उक्त वचनके “सुह-सुद्धपरिणामेहि” पदमें ‘सुह’ और ‘सुद्ध’ दो शब्द विद्यमान हैं। इनमेंसे ‘सुह’ शब्दका अर्थ भव्य जीवकी क्रियावती शक्तिके प्रवृत्तिरूप शुभ परिणामनके रूपमें और ‘सुद्ध’ शब्दका अर्थ उस भव्य जीवकी क्रियावती शक्तिके अशुभसे निवृत्तिरूप शुद्ध परिणामनके रूपमें ग्रहण करना ही युक्त है। ‘सुह’ शब्दका अर्थ जीवकी भाववती शक्तिके पुण्यकर्मके उदय होनेवाले शुभ परिणामके रूपमें और ‘सुद्ध’ शब्दका अर्थ उस जीवकी भाववती शक्तिके मोहनीयकर्मके यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशममें होनेवाले शुद्ध परिणामनके रूपमें ग्रहण करना युक्त नहीं है। आगे इसी बातको स्पष्ट किया जाता है—

जीवकी क्रियावती शक्तिके मानसिक, वाचनिक और कायिक शुभ और अशुभ प्रवृत्तिरूप परिणामन कर्मोंके आस्रव और बन्धके कारण होते हैं और उसी क्रियावती शक्तिके मानसिक, वाचनिक और कायिक उस

प्रवृत्तिरूप परिणमनोंसे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमें निवृत्तिरूप शुद्ध परिणमन भव्य जीवमें कर्मोंके संवर और निर्जरणके कारण होते हैं। जीवकी भाववती शक्तिके न तो शुभ और अशुभ परिणमन कर्मोंके आस्रव और बन्धके कारण होते हैं और न ही उसके शुद्ध परिणमन कर्मोंके संवर और निर्जरणके कारण होते हैं। इसमें यह हेतु है कि जीवकी क्रियावती शक्तिका मन, वचन और कायके सहयोगसे जो क्रियारूप परिणमन होता है उसे योग कहते हैं—(“कायवाङ्मनः कर्मयोगः” त० सू० ६-१)। यह योग यदि जीवकी भाववती शक्तिके पूर्वोक्त तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानरूप शुभ परिणमनोंसे प्रभावित हो तो उसे शुभ योग कहते हैं और वह योग यदि जीवकी भाववती शक्तिके पूर्वोक्त अतत्त्वश्रद्धान और अतत्त्वज्ञान रूप अशुद्ध परिणमनोंसे प्रभावित हो तो उसे अशुभ योग कहते हैं। (शुभपरिणामनिवृत्तो योगः शुभः। अशुभपरिणामनिवृत्तो योगः अशुभः—सर्वार्थसिद्धि ६-३)। यह योग ही कर्मोंका आस्रव अर्थात् बन्धका द्वार कहलाता है—(“स आस्रवः” त० सू० ६-२)। इस तरह जीवकी क्रियावती शक्तिका शुभ और अशुभ योगरूप परिणमन ही कर्मोंके आस्रवपूर्वक प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग रूप बन्धका कारण सिद्ध होता है।

यद्यपि योगकी शुभरूपता और अशुभरूपताका कारण होनेसे जीवकी भाववती शक्तिके तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञान रूप शुभ परिणमनोंको व अतत्त्वश्रद्धान और अतत्त्वधान रूप अशुभ परिणमनोंको भी कर्मोंके आस्रवपूर्वक बन्धका कारण मानना अयुक्त नहीं है। परन्तु कर्मोंके आस्रव और बन्धका साक्षात् कारण तो योग ही निश्चित होता है। जैसे कोई डाक्टर शीशीमें रखी हुई तेजाबको भ्रमवश आँखकी दवाई समझ रहा है तो भी तबतक वह तेजाब रोगीकी आँखको हानि नहीं पहुँचाती है जब तक वह डाक्टर उस तेजाबको रोगीकी आँखमें नहीं डालता है और जब डाक्टर उस तेजाबको रोगीकी आँखमें डालता है तो तत्काल वह तेजाब रोगीकी आँखको हानि पहुँचा देती है। इसी तरह आँखकी दवाईको आँखकी दवाई समझकर भी जब तक डाक्टर उसे रोगीकी आँखमें नहीं डालता है तब तक वह दवाई उस रोगीकी आँखको लाभ नहीं पहुँचाती है। परन्तु जब डाक्टर उस दवाईको रोगीकी आँखमें डालता है तो तत्काल वह दवाई रोगीकी आँखको लाभ पहुँचा देती है। इससे निर्णीत होता है कि जीवकी क्रियावती शक्तिका शुभ और अशुभ योगरूप परिणमन ही आस्रव और बन्धका कारण होता है। इतना अवश्य है कि जीवकी भाववती शक्तिका हृदयके सहारेपर होनेवाला तत्त्वश्रद्धान रूप शुभ परिणमन या अतत्त्वश्रद्धानरूप अशुभ परिणमन व जीवकी भाववती शक्तिका मस्तिष्कके सहारेपर होनेवाला तत्त्वज्ञानरूप शुभपरिणमन या अतत्त्वज्ञानरूप अशुभ परिणमन भी योगकी शुभरूपता और अशुभरूपतामें कारण होनेसे परम्परया आस्रव और बन्धमें कारण माने जा सकते हैं। परन्तु आस्रव और बन्धमें साक्षात् कारण तो योग ही होता है।

इसी प्रकार जीवकी क्रियावती शक्तिके योगरूप परिणमनके निरोधको ही कर्मके संवर और निर्जरणमें कारण मानना युक्त है—(“आस्रवनिरोधः संवरः” त० सू० ९-१) जीवकी भाववती शक्तिके मोहनीय कर्मके यथासम्भव उपशम, क्षय या क्षयोपशममें होनेवाले स्वभावभूत शुद्ध परिणमनोंको संवर और निर्जराका कारण मानना युक्त नहीं है, क्योंकि भाववती शक्तिके स्वभावभूत शुद्ध परिणमन मोहनीयकर्मके यथासम्भव उपशम, क्षय या क्षयोपशमपूर्वक होनेके कारण संवर और निर्जरणके कार्य होनेसे कर्मोंके संवर और निर्जरणमें कारण सिद्ध नहीं होते हैं। एक बात और है कि जब जीवकी क्रियावती शक्तिके योगरूप परिणमनोंसे कर्मोंका आस्रव होता है तो कर्मोंके संवर और निर्जरणका कारण योगनिरोधको ही मानना युक्त है। यही कारण है कि जिस जीवमें गुणस्थानक्रमसे जितना-जितना योगका निरोध होता जाता है उस जीवमें वहाँ उतना-उतना कर्मोंका संवर नियमसे होता जाता है तथा जब योगका पूर्ण निरोध हो जाता है तब कर्मोंका संवर भी पूर्णरूप से हो जाता है। कर्मोंका संवर होनेपर बद्ध कर्मोंकी निर्जरा या तो निषेक रचनाके अनुसार सविपाक रूपमें

होती है अथवा “तपसा निर्जरा च” (त० सू० ९-३) के अनुसार क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप तपके बलपर अविपाक रूपमें भी होती है। इसके अतिरिक्त यदि जीवकी भाववती शक्तिसे स्वभावभूत शुद्ध परिणमनोंको संवर और निर्जराका कारण स्वीकार किया जाता है तो जब द्वादश गुणस्थानके प्रथम समयमें ही भाववती शक्तिके स्वभावभूत परिणमनकी शुद्धताका पूर्ण विकास हो जाता है तो एक तो द्वादश और त्रयोदश गुणस्थानोंमें सातावेदनीय कर्मका आस्रवपूर्वक प्रकृति और प्रदेशरूपमें बन्ध नहीं होना चाहिए। दूसरे द्वादश गुणस्थानके प्रथम समयमें ही भाववती शक्तिके स्वभावभूत परिणमनकी शुद्धताका पूर्ण विकास हो जाने पर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनों घातिकर्मोंका तथा चारों अघातिकर्मोंका सर्वथा क्षय हो जाना चाहिये। परन्तु जब ऐसा नहीं होता है तो यही स्वीकार करना पड़ता है कि वहाँ आस्रव और बन्धका मूल कारण योग है व विद्यमान ज्ञानावरणादि उक्त तीनों घातिकर्मोंकी एवं चारों अघातिकर्मोंकी निर्जरा निषेकक्रमसे ही होती है। त्रयोदश गुणस्थानमें केवली भगवान अघातिकर्मोंकी समान स्थितिका निर्माण करनेके लिए जो समुद्घात करते हैं वह भी उनकी क्रियावती शक्तिका ही कायिक परिणमन है।

इस विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जयधवलाके मंगलाचरणकी व्याख्यामें निर्दिष्ट आचार्य वीरसेनके उपर्युक्त वचनके अंगभूत “सुह-सुद्धपरिणामेहि” पदमें आये ‘सुह’ शब्दसे जीवकी क्रियावती शक्तिके अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक शुभमें प्रवृत्तिरूप परिणमनोंका अभिप्राय ग्रहण करना ही संगत है। भाववती शक्तिके तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानरूप शुभ व मोहनीय कर्मके यथास्थान यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशममें होनेवाले स्वभावभूत शुद्ध परिणमनोंका अभिप्राय ग्रहण करना संगत नहीं है।

यहाँ यह बात भी विचारणीय है कि जयधवलाके उक्त वचनके ‘सुह-सुद्धपरिणामेहि’ पदके अन्तर्गत “सुद्ध” शब्दका अर्थ यदि जीवकी भाववती शक्तिके मोहनीय कर्मके यथासम्भव उपशम, क्षय या क्षयोपशममें विकासको प्राप्त शुद्ध परिणमनस्वरूप निश्चयधर्मके रूपमें स्वीकार किया जाये तो उस पदके अन्तर्गत “सुह” शब्दका अर्थ पूर्वोक्त प्रकार जीवकी भाववतीशक्तिके तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानरूप शुभ परिणमनके रूपमें तो स्वीकार किया ही नहीं जा सकता है, क्योंकि जीवकी भाववती शक्तिके तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानरूप वे परिणमन पूर्वोक्त प्रकार न तो कर्मोंके आस्रव और बन्धके साक्षात् कारण होते हैं और न ही बद्ध कर्मोंके संवर और निर्जरणके ही साक्षात् कारण होते हैं। इसलिए उस ‘सुह’ शब्दका अर्थ यदि जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिके रूपमें स्वीकार किया जाये तो यह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति तो कर्मोंके आस्रव और बन्धका ही कारण होती है। अतः उस “सुह” शब्दका अर्थ जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिके रूपमें ही स्वीकार करना होगा, क्योंकि इस प्रकारके व्यवहारधर्मके पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिरूप अंशसे जहाँ कर्मोंका आस्रव और बन्ध होता है वहीं उसके पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिरूप अंशसे कर्मोंका संवर और निर्जरण भी होता है। परन्तु ऐसा स्वीकार कर लेनेपर भी जीवकी भाववती शक्तिके स्वभावभूत निश्चयधर्मरूप परिणमनको पूर्वोक्त प्रकार कर्मोंके संवर और निर्जरणका कारण सिद्ध न होनेसे वहाँ “सुद्ध” शब्दका अर्थ कदापि नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार जयधवलाके “सुह-सुद्धपरिणामेहि” पदके अन्तर्गत “सुद्ध” शब्दके निरर्थक होनेका प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। अतः उक्त “सुह-सुद्धपरिणामेहि” इस सम्पूर्ण पदका अर्थ जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिके रूपमें ही ग्राह्य हो सकता है।

यदि कहा जाये कि जीवको मोक्षकी प्राप्ति उसकी भाववतीशक्तिका शुद्ध स्वभावभूत निश्चय धर्मके रूपमें परिणमन होनेपर ही होती है, इसलिए “सुह-सुद्धपरिणामेहि” पदके अन्तर्गत “सुद्ध” शब्द निरर्थक

नहीं है तो इस बातको स्वीकार करनेमें यद्यपि कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु ऐसा स्वीकार करनेपर भी यह तो कहा ही जा सकता है कि मोक्षकी प्राप्ति जीवकी भाववतीशक्तिके स्वभावभूत शुद्ध परिणमनके होनेपर होना एक बात है और उस स्वभावभूत शुद्ध परिणमनको कर्मक्षयका कारण मानना अन्य बात है, क्योंकि वास्तवमें देखा जाये तो द्वादश गुणस्थानवर्ती जीवका वह शुद्ध स्वभाव मोक्षरूप शुद्ध स्वभावका ही अंश है जो मोहनीय कर्मके सर्वथा क्षय होनेपर ही प्रकट होता है ।

अन्तमें एक बात यह भी विचारणीय है कि उक्त "सुह-सुद्धपरिणामेहि" पदके अन्तर्गत "सुद्ध" शब्दका जीवकी भाववतीशक्तिका स्वभावभूत शुद्ध परिणमन अर्थ स्वीकार करनेपर पूर्वोक्त यह समस्या तो उपस्थित है ही कि द्वादश गुणस्थानके प्रथम समयमें शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मका पूर्ण विकास हो जानेपर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनों घातिकर्मोंका तथा चारों अघातिकर्मोंका एक साथ क्षय होनेकी प्रसक्ति होती है । साथ ही यह समस्या भी उपस्थित होती है कि जीवकी भाववतीशक्तिके स्वभावभूत शुद्ध परिणमनके विकासका प्रारम्भ जब प्रथम गुणस्थानके अन्त समयमें मोहनीय कर्मकी मिथ्यात्व, सम्यग्-मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृतिरूप तीन और अनन्तानुबन्धो क्रोध, मान, माया और लोभरूप चार इन सात प्रकृतियोंका उपशम, क्षय या क्षयोपशम हो जानेपर चतुर्थ गुणस्थानके प्रथम समयमें होता है तो ऐसी स्थितिमें उस स्वभावभूत शुद्ध परिणमनको कर्मोंके संवर और निर्जरणका कारण कैसे माना जा सकता है ? अर्थात् नहीं माना जा सकता है । यह बात पूर्वमें स्पष्ट की जा चुकी है । उत्तरपक्षकी यह जो मान्यता है कि जीव द्रव्यकर्मोंके उदयकी अपेक्षा न रखते हुए स्वयं (अपने आप) ही अज्ञानी बना हुआ है और उन कर्मोंसे यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशमकी अपेक्षा न रखते हुए स्वयं (अपने आप) ही ज्ञानी बनकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है सो इस मान्यताका निराकरण प्रश्नोत्तर एककी समीक्षामें किया जा चुका है तथा प्रश्नोत्तर षष्ठकी समीक्षामें भी किया जायेगा । इसी तरह उत्तरपक्षको मान्य नियतिवाद और नियतवादका निराकरण प्रश्नोत्तर पाँचकी समीक्षामें किया जायेगा ।

प्रकृतमें कर्मोंके आस्रव और बन्ध तथा संवर और निर्जराकी प्रक्रिया

(१) अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव जबतक आशक्तिवश मानसिक, वाचनिक और कायिक संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति करते रहते हैं तबतक वे उस प्रवृत्तिके आधारपर सतत कर्मोंका आस्रव और बन्ध ही किया करते हैं । तथा इस संकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्तिके साथ वे यदि कदाचित् सांसारिक स्वार्थवश मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति भी करते हैं तो भी वे उन प्रवृत्तियोंके आधारपर सतत कर्मोंका आस्रव और बन्ध ही किया करते हैं ।

(२) अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव जब आशक्तिवश होनेवाले संकल्पी पापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्तिको कर्तव्यवश करने लगते हैं तब भी वे कर्मोंका आस्रव और बन्ध ही किया करते हैं ।

(३) अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव उक्त संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमें सर्वथा त्याग कर यदि अशक्तिवश होनेवाले मानसिक, वाचनिक और कायिक आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ कर्तव्यवश मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति करने लगते हैं तो भी वे कर्मोंका आस्रव और बन्ध ही किया करते हैं ।

(४) अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव यदि उक्त संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके उक्त प्रकार सर्वथा त्यागपूर्वक उक्त आरम्भी पापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका भी मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और

कायगुणितके रूपमें एक देश अथवा सर्वदेश त्यागकर कर्त्तव्यदश मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति करने लगते हैं तो भी वे कर्मोंका आस्रव और बन्ध ही किया करते हैं ।

( ५ ) अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव उक्त संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका सर्वथा त्याग कर उक्त आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ कर्त्तव्यदश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति करते हुए अथवा उक्त संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका सर्वथा व उक्त आरंभीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका एकदेश या सर्वदेश त्याग कर कर्त्तव्यदश पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति करते हुए यदि क्षयोपशम विशुद्धि, देशना और प्रयोग्य लब्धियोंका अपनेमें विकास कर लेते हैं तो भी वे कर्मोंका आस्रव और बन्ध ही किया करते हैं ।

( ६ ) यतः मिथ्यात्व गुणस्थानके अतिरिक्त सभी गुणस्थान भव्य जीवके ही होते हैं अभव्य जीवके नहीं, अतः जो भव्य जीव सासादन सम्यग्दृष्टि हो रहे हों उनमें भी उक्त पाँचों अनुच्छेदोंमेंसे दो, तीन और चार संख्यक अनुच्छेदोंमें प्रतिपादित व्यवस्थाएँ यथायोग्य पूर्वसंस्कारवश या सामान्यरूपसे लागू होती हैं तथा अनुच्छेद तीन और चारमें प्रतिपादित व्यवस्थाएँ मिथ्यात्व गुणस्थानकी ओर झुके हुए सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवोंमें भी लागू होती हैं । सासादन सम्यग्दृष्टि जीवोंमें अनुच्छेद एकमें प्रतिपादित व्यवस्था इसलिए लागू नहीं होती कि वे जीव एक तो केवल संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति कदापि नहीं करते हैं व उनकी प्रवृत्ति अबुद्धिपूर्वक होनेके कारण पुण्यमय दयारूप प्रवृत्ति भी सांसारिक स्वार्थवश नहीं करते हैं । तथा उनमें अनुच्छेद पाँचमें प्रतिपादित व्यवस्था इसलिए लागू नहीं होती कि वे अपना समय व्यतीत करके नियमसे मिथ्यात्व गुणस्थानको ही प्राप्त करते हैं । इसी तरह मिथ्यात्व गुणस्थानकी ओर झुके हुए सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवोंमें अनुच्छेद एक और दोमें प्रतिपादित व्यवस्थाएँ इसीलिए लागू नहीं होती क्योंकि उनमें संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका सर्वथा अभाव रहता है तथा उनमें अनुच्छेद पाँच की व्यवस्था इसलिए लागू नहीं होती कि वे भी मिथ्यात्व गुणस्थानकी ओर झुके हुए होनेके कारण अपना समय व्यतीत करके मिथ्यात्व गुणस्थानको ही प्राप्त करते हैं । इस तरह सासादन सम्यग्दृष्टि और मिथ्यात्व गुणस्थानकी ओर झुके हुए सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव सतत यथायोग्य कर्मोंका आस्रव और बन्ध ही किया करते हैं । यहाँ यह ध्यातव्य है कि सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोंके साथ सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवोंकी प्रवृत्तियाँ भी अबुद्धिपूर्वक हुआ करती हैं ।

( ७ ) उपर्युक्त जीवोंसे अतिरिक्त जो भव्य मिथ्यादृष्टि जीव और सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव सम्यक्त्व प्राप्तिकी ओर झुके हुए हों अर्थात् सम्यक्त्व प्राप्तिमें अनिवार्य कारणभूत करणलब्धिको प्राप्त हो गये हों वे नियमसे यथायोग्य कर्मोंका आस्रव और बन्ध करते हुए भी दर्शनमोहनीय कर्मकी यथासम्भवरूपमें विद्यमान मिथ्यातत्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृतिरूप तीन तथा चारित्रमोहनीयकर्मके प्रथम भेद अनन्तानुबन्धी कषायकी नियमसे विद्यमान क्रोध, मान, माया और लोभरूप चार इस तरह सात कर्मप्रकृतियोंका उपशम, क्षय या क्षयोपशमके रूपमें संवर और निर्जरण किया करते हैं । इसी तरह चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर आगेके गुणस्थानोंमें विद्यमान जीव भी यथायोग्य कर्मोंका आस्रव और बन्ध तथा यथायोग्य कर्मोंका संवर और निर्जरण किया करते हैं ।

उपर्युक्त विवेचनाका फलितार्थ

( १ ) कोई अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति ही किया करते हैं । अथवा संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ सांसारिक स्वार्थवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति भी

किया करते हैं। कोई अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभके साथ पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्तिको कर्त्तव्यवश किया करते हैं। कोई अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके सर्वथा त्यागपूर्वक आरम्भीपापमय अदयारूप शुभ प्रवृत्तिके साथ कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं एवं कोई अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके सर्वथा व आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके एकदेश अथवा सर्वदेश त्यागपूर्वक कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं। •

(२) कोई सासादनसम्यग्दृष्टि जीव सामान्यरूपसे संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ पूर्व-संस्कारके बलपर कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं। कोई सासादनसम्यग्दृष्टि जीव पूर्व-संस्कारके बलपर संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वथा निवृत्तिपूर्वक आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ कर्त्तव्यवश पुण्यमय अदयारूप शुभरूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं और कोई सासादन सम्यग्दृष्टि जीव पूर्वसंस्कारवश संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वथा व आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे एकदेश अथवा सर्वदेश निवृत्तिपूर्वक कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं। परन्तु सासादनसम्यग्दृष्टि जीवकी यथायोग्य ये सब प्रवृत्तियाँ अबुद्धिपूर्वक ही हुआ करती हैं।

(३) सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव यद्यपि भव्य मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोंके समान ही प्रवृत्ति ही किया करते हैं परन्तु उनमें इतनी विशेषता है कि वे संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति किसी भी रूपमें नहीं करते हैं। तथा सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवकी भी प्रवृत्तियाँ सासादन सम्यग्दृष्टि जीवके समान अबुद्धिपूर्वक ही हुआ करती हैं।

(४) चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर आगेके गुणस्थानोंमें विद्यमान सभी जीव संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वथा रहित होते हैं। इस तरह चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव या तो अशक्तिवश आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं अथवा आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे एकदेश या सर्वदेश निवृत्तिपूर्वक कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं।

(५) पंचम गुणस्थानवर्ती जीव नियमसे आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे एकदेश निवृत्तिपूर्वक दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं, क्योंकि ऐसा किये बिना जीवको पंचम गुणस्थान कदापि प्राप्त नहीं होता है। इतना अवश्य है कि कोई पंचम गुणस्थानवर्ती जीव आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वदेश निवृत्तिपूर्वक भी कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं।

(६) षष्ठ गुणस्थानवर्ती जीव नियमसे आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वदेश निवृत्तिपूर्वक कर्त्तव्यवश पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं; क्योंकि ऐसा किये बिना जीवको षष्ठ गुणस्थान प्राप्त नहीं होता।

(७) षष्ठ गुणस्थानसे आगेके गुणस्थानोंमें जीव आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वथा निवृत्त रहता है तथा पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति भी बाह्यरूपमें नहीं करते हुए अन्तरंगरूपमें ही तब तक करता रहता है जब तक नवम गुणस्थानमें उसकी अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलनकषायोंको क्रोध प्रकृतियोंके सर्वथा उपशम या क्षय करनेकी क्षमता प्राप्त नहीं होती। तात्पर्य यह है कि जीवके अप्रत्याख्यानावरण क्रोधकर्मका उदय प्रथम गुणस्थानसे लेकर चतुर्थ गुणस्थानके अन्त समय तक रहता है व पंचम गुणस्थानमें और उसके आगे उसका क्षयोपशम ही रहा करता है। इसी तरह जीवके प्रत्याख्यानावरण क्रोध

कर्मका उदय प्रथम गुणस्थानसे लेकर पंचम गुणस्थानके अन्त समयतक रहा करता है व षष्ठ गुणस्थानमें और उसके आगे उसका क्षयोपशम ही रहा करता है तथा इन सभी गुणस्थानोंमें संज्वलन क्रोध कर्मका उदय ही रहा करता है। परन्तु संज्वलनक्रोधकर्मका उदय व अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोधकर्मोंका क्षयोपशम तब तक रहा करता है जब तक नवम गुणस्थानमें इनका सर्वथा उपशम या क्षय नहीं हो जाता है। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध कर्मका बन्ध चतुर्थ गुणस्थान तक ही होता है। प्रत्याख्यानावरण क्रोध कर्मका बन्ध पंचम गुणस्थान तक ही होता है और संज्वलन क्रोध कर्मका बन्ध नवम गुणस्थानके एक निश्चित भाग तक ही होता है। इन सबके बन्धका कारण जीवकी भाववती शक्तिके हृदय और मस्तिष्क के सहारेपर होनेवाले यथायोग्य परिणमनोंसे प्रभावित जीवकी क्रियावती शक्तिका मानसिक, वाचनिक और कायिक यथायोग्य प्रवृत्तिरूप परिणमन ही है। जीव चतुर्थ गुणस्थानमें जब तक आरंभीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका यथायोग्य रूपमें एकदेश त्याग नहीं करता तब तक तो उसके अप्रत्याख्यानावरण क्रोध कर्मका बन्ध होता ही रहता है। परन्तु वह जीव यदि आरंभीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका एकदेश त्याग कर देता है और उस त्यागके आधारपर उसमें कदाचित् उस अप्रत्याख्यानावरण क्रोध कर्मके क्षयोपशमकी क्षमता प्राप्त हो जाती है तो उस जीवमें उस क्रोध कर्मके बन्धका अभाव हो जाता है। यह व्यवस्था चतुर्थ गुणस्थानके समान प्रथम और तृतीय गुणस्थानोंमें भी लागू होती है। इसी तरह जीव पंचम गुणस्थानमें जब तक आरंभीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका सर्वदेश त्याग नहीं करता तब तक तो उसके प्रत्याख्यानावरण क्रोधकर्मका बन्ध होता ही है। परन्तु यह जीव यदि आरंभीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका सर्वदेश त्याग कर देता है और इस त्यागके आधारपर उसमें कदाचित् उस अप्रत्याख्यानावरण क्रोध कर्मके क्षयोपशमकी क्षमता प्राप्त हो जाती है तो उस जीवमें उस क्रोध कर्मके बन्धका अभाव हो जाता है। यह व्यवस्था पंचम गुणस्थानके समान प्रथम, तृतीय और चतुर्थ गुणस्थानोंमें भी लागू होती है। पंचम गुणस्थानके आगेके गुणस्थानोंमें तब तक जीव संज्वलन-क्रोधकर्मका बन्ध करता रहता है जब तक वह नवम गुणस्थानमें बन्धके अनुकूल अपनी मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्ति करता रहता है। और जब वह नवम गुणस्थानमें संज्वलनक्रोध कर्मके उपशम या क्षयकी क्षमता प्राप्त कर लेता है तो उस जीवके उस क्रोधकर्मके बन्धका अभाव हो जाता है।

इतना विवेचन करनेमें मेरा उद्देश्य इस बातको स्पष्ट करनेका है कि जीवकी क्रियावती शक्तिके मानसिक, वाचनिक और कायिक अदयारूप अशुभ और दयारूप शुभ प्रवृत्तियोंके रूपमें होनेवाले परिणमन ही क्रोधकर्मके आस्रव और बन्धमें कारण होते हैं व उन प्रवृत्तियोंका निरोध करनेसे ही उन क्रोध कर्मोंका संवर और निर्जरण करनेकी क्षमता जीवमें आती है। जीवकी भाववती शक्तिका न तो मोहनीय कर्मके उदयमें होनेवाला विभावरूप परिणमन आस्रव और बन्धका कारण होता है और न ही मोहनीय कर्मके उपशम, क्षय या क्षयोपशममें होनेवाला भाववती शक्तिका स्वभावरूप शुद्ध परिणमन संवर और निर्जराका कारण होता है। इतना अवश्य है कि जीवकी भाववतीशक्तिके हृदयके सहारेपर होनेवाले तत्त्वश्रद्धानरूप शुभ और अतत्त्वश्रद्धानरूप अशुभ तथा मस्तिष्कके सहारेपर होनेवाले तत्त्वज्ञानरूप शुभ और अतत्त्वज्ञानरूप अशुभ परिणमन अपनी शुभरूपता और अशुभरूपताके आधारपर यथायोग्य शुभ और अशुभ कर्मोंके आस्रव और बन्धके परम्परया कारण होते हैं व तत्त्वश्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शनके रूपमें तथा तत्त्वज्ञान व्यवहारसम्यग्ज्ञानके रूपमें यथायोग्य कर्मोंके आस्रव और बन्धके साथ यथायोग्य कर्मोंके संवर और निर्जराके भी परम्परया कारण होते हैं।

इस विवेचनसे यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि क्रियावतीशक्तिके परिणमनस्वरूप जीवकी मानसिक, वाचनिक और कायिक अदयारूप अशुभ और दयारूप शुभ प्रवृत्तियाँ यथायोग्य अशुभ और शुभ

कर्मोंके आस्रव और बन्धका साक्षात् कारण होती हैं तथा अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक होनेवाली दयारूप शुभ प्रवृत्ति यथायोग्य कर्मोंके आस्रव और बन्धके साथ यथायोग्य कर्मोंके संवर और निर्जरणका साक्षात् कारण होती है एवं जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप तथा दयारूप शुभरूपता और अदयारूप अशुभरूपतासे रहित जीवकी मानसिक, वाचनिक और कायिक योगरूप प्रवृत्ति मात्र सातावेदनीय कर्मोंके आस्रवपूर्वक केवल प्रकृति और प्रदेशरूप बन्धका कारण होती है तथा योगका अभाव कर्मोंके संवर और निर्जरणका कारण होता है।

इस सामान्य समीक्षाके सम्पूर्ण विवेचनसे यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि जीव-दया पुण्यरूप भी होती है, जीवके शुद्ध स्वभावभूत निश्चय धर्मरूप भी होती है व इस निश्चय धर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्तिमें कारणभूत व्यवहार धर्मरूप भी होती है। अर्थात् तीनों प्रकारकी जीवदयाएँ अपना-अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और महत्त्व रखती हैं।

## प्रश्नोत्तर ४ की सामान्य समीक्षा

### १. प्रश्नोत्तर ४ की सामान्य समीक्षा

पूर्वपक्षका प्रश्न—व्यवहारधर्म निश्चयधर्ममें साधक है या नहीं? त० च० पृ० १२९।

उत्तरपक्षका उत्तर—निश्चय रत्नत्रयस्वरूप निश्चयधर्मकी उत्पत्तिकी अपेक्षा विचार किया जाता है तो व्यवहारधर्म निश्चयधर्ममें साधक नहीं है, क्योंकि निश्चयधर्मकी उत्पत्ति परनिरपेक्ष होती है। त० च० पृ० १२९।

### धर्मका लक्षण

वस्तुविज्ञान (द्रव्यानुयोग) की दृष्टिसे “वत्युसहाओ धम्मो” इस आगम वचनके अनुसार धर्म यद्यपि आत्माके स्वतःसिद्ध स्वभावका नाम है, परन्तु अध्यात्म विज्ञान (करणानुयोग और चरणानुयोग) की दृष्टिसे धर्म उसे कहते हैं जो जीवको संसारदुःखसे छुड़ाकर उत्तम अर्थात् आत्मस्वातन्त्र्य रूप मोक्षमुखमें पहुँचा देता।<sup>१</sup>

### आध्यात्मिक धर्मका विश्लेषण

रत्नकरण्डकश्रावकाचार<sup>२</sup> में आध्यात्मिक धर्मका विश्लेषण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके रूपमें किया गया है जिन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके विरोधी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र संसारके कारण होते हैं।

आध्यात्मिक धर्मका निश्चय और व्यवहार दो रूपोंमें विभाजन और उनमें साध्य-साधक भाव

श्रद्धेय पं० दौलतरामजीने छहढाला<sup>३</sup> में कहा है कि आत्माका हित सुख है। वह सुख आकुलताके

### १. देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम्।

संसारदुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥२॥ —रत्नकरण्डकश्रावकाचार

### २. सदृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।

यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ॥३॥ —रत्नकरण्डकश्रावकाचार

### ३. आत्म कौ हित है सुख सो सुख आकुलता बिन कहिये।

आकुलता शिवमाहि न तातें शिवमग लाग्यो चहिये ॥

सम्यग्दर्शन ज्ञान चरण शिव मग सो दुविध विचारो।

जो सत्यारथ रूप सो निश्चय कारण सो बवहारो ॥३-१॥



अभावमें प्रकट होता है। आकुलताका अभाव मोक्षमें है, अतः जीवोंको मोक्षके मार्गमें प्रवृत्त होना चाहिए। मोक्षका मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप है। एवं वे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र निश्चय और व्यवहारके भेदसे दो भागोंमें विभक्त हैं। जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र सत्यार्थ अर्थात् आत्माके शुद्ध स्वभावभूत हैं उन्हें निश्चयमोक्षमार्ग कहते हैं व जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र निश्चयमोक्षमार्गके प्रगट होनेमें कारण हैं उन्हें व्यवहारमोक्षमार्ग कहते हैं।

छहहालाके इस प्रतिपादनसे मोक्षमार्गका सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके रूपमें विश्लेषण, उनकी निश्चय और व्यवहार दो भेदरूपता व निश्चय और व्यवहार दोनों मोक्षमार्गोंमें विद्यमान साध्य-साधकभाव इन सबका परिज्ञान हो जाता है। इसके अतिरिक्त पंचास्तिकायकी गाथा १०५ की आचार्य जयसेन कृत टीकामें<sup>१</sup> भी व्यवहारमोक्षमार्गको निश्चयमोक्षमार्गका कारण बतलाकर दोनों मोक्षमार्गोंमें साध्य-साधकभाव मान्य किया गया है। तथा गाथा १५९, १६० और १६१ को आचार्य अमृतचंद्र कृत टीका<sup>२</sup> में भी ऐसा ही बतलाया गया है।

### निश्चयधर्मकी व्याख्या

करणानुयोगकी व्यवस्थाके अनुसार जीव अनादिकालसे मोहनीयकर्मसे बद्ध है और उसके उदयमें उसकी स्वतःसिद्ध स्वभावभूत भाववती शक्तिका शुद्धस्वभावभूत परिणमनके विपरीत अशुद्ध विभावभूत परिणमन होता है। भाववती शक्तिके इस अशुद्ध विभावरूप परिणमनकी समाप्ति करणानुयोगकी व्यवस्थाके अनुसार मोहनीयकर्मके यथास्थान यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशमपूर्वक होती है। इस तरह जीवकी भाववती शक्तिके अशुद्ध विभावभूत परिणमनके समाप्त हो जानेपर उसका जो शुद्ध स्वभावभूत परिणमन होता है उसे ही निश्चयधर्म जानना चाहिए। इसके प्रकट होनेको व्यवस्था निम्न प्रकार है—

(क) सर्वप्रथम जीवमें दर्शनमोहनीयकर्मकी यथासम्भव रूपमें विद्यमान मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृतिरूप तीन व चारित्रमोहनीयकर्मके प्रथम भेद अनन्तानुबन्धी कषायकी नियमसे विद्यमान क्रोध, मान, माया और लोभरूप चार इन सात प्रकृतियोंका यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम होनेपर उस जीवकी भाववती शक्तिका चतुर्थ गुणस्थानके प्रथम समयमें औपशमिक, क्षायिक या क्षायोपशमिक निश्चय-सम्यग्दर्शनके रूपमें व निश्चयसम्यग्ज्ञानके रूपमें शुद्धस्वभावभूत परिणमन प्रकट होता है।

(ख) इसके पश्चात् जीवमें चारित्रमोहनीयकर्मके द्वितीय भेद अप्रत्याख्यानावरणकषायकी नियमसे विद्यमान क्रोध, मान, माया और लोभ प्रकृतियोंका क्षयोपशम होनेपर उस जीवकी भाववती शक्तिका पंचमगुणस्थानके प्रथम समयमें देशविरति निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमें शुद्ध स्वभावभूत परिणमन प्रगट होता है।

(ग) इसके भी पश्चात् जीवमें चारित्रमोहनीयकर्मके तृतीय भेद प्रत्याख्यानावरणकषायकी नियमसे विद्यमान क्रोध, मान, माया और लोभ प्रकृतियोंका क्षयोपशम होनेपर उस जीवकी भाववती शक्तिका सप्तम गुणस्थानके प्रथम समयमें सर्वाविरति निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमें शुद्धस्वभावभूत परिणमन प्रकट होता है।

१. निश्चयमोक्षमार्गस्य परम्परया कारणभूतो व्यवहारमोक्षमार्गः।—गा० १०५, टीका।

२. (क) निश्चयव्यवहारयोः साध्यसाधकभावत्वात्। गा० १५९ की टीका।

(ख) निश्चयमोक्षमार्गसाधकभावेन व्यवहारमोक्षमार्गनिर्देशोऽयम्। गा० १६० की टीका।

(ग) व्यवहारमोक्षमार्गसाध्यभावेन निश्चयमोक्षमार्गोपन्यासोऽयम्। गा० १६१ की टीका।

ऐसा सप्तम गुणस्थानवर्ती जीव अन्तर्मुहूर्त कालके अन्तरालसे सप्तमसे षष्ठ और षष्ठसे सप्तम इस तरह दोनों गुणस्थानोंमें यथायोग्य समय तक सतत झूलेकी तरह झूलता रहता है ।

(घ) यदि वह सप्तम गुणस्थानवर्ती जीव पहलेसे ही उक्त औपशमिक या क्षायिक निश्चयसम्यग्दर्शनको प्राप्त हो अथवा सप्तम गुणस्थानके कालमें ही वह उक्त औपशमिक या क्षायिक निश्चयसम्यग्दर्शनको प्राप्त हो जावे तो वह तब करणलब्धिके आधारपर नव नोकषायोंके साथ चारित्रमोहनीयकर्मके द्वितीय भेद अप्रत्याख्यानावरण और तृतीय भेद प्रत्याख्यानावरण इन दोनों कषायोंकी क्रोध, मान, माया और लोभ प्रकृतियोंका तथा उसके चतुर्थ भेद संज्वलनकषायकी क्रोध, मान, माया और लोभ प्रकृतियोंका भी यथास्थान नियमसे उपशम या क्षय करता है और उपशम होनेपर उसको भाववती शक्तिका एकादश गुणस्थानके प्रथम समयमें ओपशमिक यथाख्यात निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमें अथवा क्षय होनेपर उसकी भाववती शक्तिका द्वादश गुणस्थानके प्रथम समयमें क्षायिक यथाख्यात निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमें शुद्ध स्वभावभूत परिणमन प्रगट होता है ।

**व्यवहारधर्मकी व्याख्या**

व्यवहारधर्मकी व्याख्या करनेसे पूर्व यहाँ मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि नारकी, देव और निर्यच इन तीनों प्रकारके जीवोंमें केवल अगृहीत मिथ्यात्व पाया जाता है । अतः इनमें व्यवहारधर्मका व्यवस्थित क्रमसे विवेचन करना सम्भव नहीं है । केवल मनुष्य ही ऐसा जीव है जिसमें अगृहीत मिथ्यात्वके साथ गृहीत मिथ्यात्व भी पाया जाता है । फलतः मनुष्योंमें व्यवहारधर्मका व्यवस्थित क्रमसे विवेचन करना सम्भव हो जाता है । अतः यहाँ मनुष्योंकी अपेक्षा व्यवहारधर्मका विवेचन किया जाता है ।

चरणानुयोगकी व्यवस्थाके अनुसार पापभूत अघातिकर्मोंके उदयमें अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि मनुष्योंकी भाववती शक्तिके हृदयके सहारेपर अतत्त्वश्रद्धानके रूपमें और मस्तिष्कके सहारेपर अतत्त्वज्ञानके रूपमें मिथ्या परिणमन होते रहते हैं तथा जब उनमें पुण्यभूत अघातिकर्मोंका उदय होता है तब अतत्त्वश्रद्धान और अतत्त्वज्ञानरूप उन परिणमनोंकी समाप्ति होनेपर उनकी उस भाववती शक्तिके हृदयके सहारेपर तत्त्वश्रद्धानके रूपमें और मस्तिष्कके सहारेपर तत्त्वज्ञानके रूपमें सम्यक्परिणमन होने लगते हैं । भाववती शक्तिके दोनों प्रकारके सम्यक् परिणमनोंमेंसे तत्त्वश्रद्धानरूप परिणमन सम्यग्दर्शनके रूपमें व्यवहारधर्म कहलाता है और तत्त्वज्ञानरूप परिणमन सम्यग्ज्ञानके रूपमें व्यवहारधर्म कहलाता है ।

चरणानुयोगकी व्यवस्थाके अनुसार भाववती शक्तिके परिणमन स्वरूप उक्त अतत्त्वश्रद्धान और अतत्त्वज्ञानसे प्रभावित अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि मनुष्य अपनी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप मानसिक, वाचनिक और कायिक संकल्पी पापभूत अशुभ प्रवृत्तियाँ किया करते हैं और कदाचित् साथमें लौकिक स्वार्थवश पुण्यभूत शुभ प्रवृत्तियाँ भी करते हैं । तथा जब वे भाववती शक्तिके परिणमन स्वरूप उक्त तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानसे प्रभावित होते हैं तब वे अपनी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप उक्त संकल्पी-पापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंको सर्वथा त्याग कर मानसिक, वाचनिक और कायिक आरम्भो पापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंके साथ कर्तव्यवश पुण्यभूत शुभ प्रवृत्तियाँ भी करने लगते हैं । इतना ही नहीं, भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप उक्त तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानके आधारपर वे अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि मनुष्य कदाचित् क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप उक्त संकल्पी पापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंके सर्वथा त्यागपूर्वक उक्त आरम्भो पापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंका भी एकदेश अथवा सर्वदेश त्याग करते हुए अनिवार्य आरम्भो पापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंके साथ पुण्यभूत शुभ प्रवृत्तियाँ करते हैं । इस प्रकार अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि मनुष्य

भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानसे प्रभावित होकर अपनी क्रियावती शक्तिके परिणमन स्वरूप संकल्पी पापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंको सर्वथा त्याग कर जो अपनी क्रियावती शक्तिके परिणमन-स्वरूप आरम्भी पापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंके साथ पुण्यभूत शुभ प्रवृत्तियाँ करते हैं उन प्रवृत्तियोंको नैतिक आधारके रूपमें व्यवहारधर्म कहा जाता है। तथा वे ही मनुष्य जब संकल्पी पापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंके सर्वथा त्यागपूर्वक आरम्भी पापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंका एकदेश अथवा सर्वदेश त्याग करते हुए पुण्यभूत शुभ प्रवृत्तियाँ करते हैं तब उन्हें क्रमशः देशविरति अथवा सर्वविरतिरूप सम्यक्चारित्रके रूपमें व्यवहारधर्म कहा जाता है।

प्रसंगवश मैं यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि मनुष्योंको भाववती शक्तिके परिणमन स्वरूप हृदयके सहारेपर होनेवाला अतत्त्वश्रद्धान व्यवहारमिथ्यादर्शन कहलाता है। और उनकी उसी भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप मस्तिष्कके सहारेपर होनेवाला अतत्त्वज्ञान व्यवहार-मिथ्याज्ञान कहलाता है। तथा मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान इन दोनोंसे प्रभावित उन मनुष्योंकी क्रियावती शक्तिके परिणाम स्वरूप मानसिक, वाचनिक और कायिक संकल्पी पापभूत जो अशुभ प्रवृत्ति हुआ करती है वह व्यवहारमिथ्याचारित्र कहलाता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि उक्त प्रकारके व्यवहारमिथ्यादर्शन और व्यवहारमिथ्याज्ञानके विपरीत व्यवहारसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्ज्ञानसे प्रभावित होकर वे अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि मनुष्य संकल्पी पापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंका सर्वथा त्याग करते हुए यदि अशक्तिवश आरम्भी पापका अणुमाण भी त्याग नहीं कर पाते हैं तो उनकी वह आरम्भी पापरूप अशुभ प्रवृत्ति व्यवहाररूप अविरति कहलाती है।

यहाँ मैं यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि जिस प्रकार पूर्वमें मोहनीयकर्मकी उन-उन प्रकृतियोंके यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम पूर्वक होनेवाले भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप निश्चयसम्यग्दर्शन निश्चयसम्यग्ज्ञान व देशविरति, सर्वविरति और यथाख्यात सम्यक्चारित्रके रूपमें निश्चयधर्मका विवेचन किया गया है उसी प्रकार यहाँ प्रथम गुणस्थानमें मोहनीयकर्मकी मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी दोनों प्रकृतियोंके उदयमें भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप मिथ्यात्वभूत भावमिथ्यादर्शन, भावमिथ्याज्ञान और भावमिथ्या-चारित्रके रूपमें, द्वितीय गुणस्थानमें मोहनीयकर्मकी अनन्तानुबन्धी प्रकृतिके उदयमें भाववती शक्तिके परिणमन-स्वरूप सासादनसम्यक्त्वभूत भावमिथ्यादर्शन, भावमिथ्याज्ञान और भावमिथ्याचारित्रके रूपमें एवं तृतीय गुणस्थानमें मोहनीयकर्मकी सम्यक्मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयमें भाववती शक्तिके परिणामस्वरूप सम्यग्मिथ्यात्वभूत भावमिथ्यादर्शन, भावमिथ्याज्ञान और भावमिथ्याचारित्रके रूपमें निश्चय (भाव) अधर्मका भी विवेचन कर लेना चाहिए। यहाँ भी यह ध्यातव्य है कि चतुर्थ गुणस्थानके जीवमें नव नोकाषायोंके उदयके साथ अत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कषायोंके सामूहिक उदयमें जीवकी भाववती शक्तिका जो परिणमन होता है उसे भाव-अविरति जानना चाहिये। इसे न तो भावमिथ्याचारित्र कह सकते हैं और न विरतिके रूपमें भावसम्यक्चारित्र ही कह सकते हैं, क्योंकि भावमिथ्याचारित्र अनन्तानुबन्धी कषायके उदयमें होता है और विरतिके लिये कम-से-कम अप्रत्याख्यानावरणका क्षयोपशम आवश्यक है।

उपर्युक्त दोनों प्रकारके स्पष्टीकरणोंके साथ ही यहाँ निम्नलिखित विशेषतायें भी ज्ञातव्य हैं—

(१) अभव्य जीवोंके केवल प्रथम मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ही होता है जबकि भव्य जीवोंके प्रथम मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर चतुर्थदश अयोगकेवली गुणस्थान पर्यन्त सभी गुणस्थान सम्भव हैं।

(२) निश्चयधर्मका विकास भव्य जीवोंमें ही होता है, अभव्य जीवोंमें नहीं होता। तथा भव्य जीवोंमें

भी उस निश्चयधर्मका विकास चतुर्थ गुणस्थानके प्रथम समयसे प्रारम्भ होता है, इसके पूर्वके गुणस्थानोंसे नहीं होता ।

(३) जीवके चतुर्थ गुणस्थानके प्रथम समयमें जो निश्चयधर्मका विकास होता है वह उस जीवकी भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप निश्चयसम्यग्दर्शन और निश्चयसम्यग्ज्ञानके रूपमें होता है । इसके पश्चात् जीवके पंचम गुणस्थानके प्रथम समयमें निश्चयधर्मका विकास उस जीवकी भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप देशविरति निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमें होता है तथा इसके भी पश्चात् जीवके निश्चयधर्मका विकास सप्तम गुणस्थानके प्रथम समयमें उस जीवकी भाववती शक्तिके परिणमन स्वरूप सर्वविरति निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमें होता है और जीवमें उसका सद्भाव पूर्वोक्त प्रकार षष्ठ गुणस्थानसे लेकर दशम गुणस्थान तक उत्तरोत्तर उत्कर्षके रूपमें विद्यमान रहता है । दशम गुणस्थानके आगे जीवके एकादश गुणस्थानके प्रथम समयमें निश्चयधर्मका विकास जीवकी भाववती शक्तिके परिणमन स्वरूप औपशमिक यथाख्यात निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमें होता है अथवा दशम गुणस्थानसे ही आगे जीवके द्वादश गुणस्थानके प्रथम समयमें निश्चयधर्मका विकास उस जीवकी भाववती शक्तिके परिणमन स्वरूप क्षायिक यथाख्यात निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमें होता है तथा यह जीवके आगेके सभी गुणस्थानोंमें विद्यमान रहता है ।

(४) पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है कि व्यवहारधर्म सम्यग्दर्शनके रूपमें जीवकी भाववती शक्तिका हृदयके सहारेपर होनेवाला परिणमन है और दूसरा व्यवहारधर्म सम्यग्ज्ञानके रूपमें जीवकी भाववती शक्तिका मस्तिष्कके सहारेपर होनेवाला परिणमन है । एवं तीसरा व्यवहारधर्म नैतिक आचार तथा देशविरति व सर्वविरतिरूप सम्यक्चारित्रके रूपमें मन, वचन और कायके सहारेपर होनेवाला जीवकी क्रियावती शक्तिका परिणमन है । इस सभी प्रकारके व्यवहारधर्मका विकास प्रथम गुणस्थानमें सम्भव है और अभव्य व भव्य दोनों प्रकारके जीवोंमें हो सकता है । इतना अवश्य है कि उक्त सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानरूप तथा नैतिक आचाररूप व्यवहारधर्मका विकास प्रथम गुणस्थानमें नियमसे होता है क्योंकि इस प्रकारके व्यवहारधर्मका विकास किये बिना अभव्य जीवमें क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य इन चार लब्धियोंका व भव्य जीवमें इन चारों लब्धियोंके साथ करणलब्धिका विकास नहीं हो सकता है ।

प्रथम गुणस्थानमें देशविरति और सर्वविरति सम्यक्चारित्र रूप व्यवहारधर्मके विकसित होनेका कोई नियम नहीं है परन्तु देशविरति सम्यक्चारित्ररूप व्यवहारधर्मका विकास चतुर्थ गुणस्थानमें होकर पंचम गुणस्थानमें भी रहता है । एवं सर्वविरति सम्यक्चारित्ररूप व्यवहारधर्मका पंचम गुणस्थानमें विकास होकर आगे षष्ठसे दशम गुणस्थान तक उसका सद्भाव नियमसे रहता है ।

यहाँ इतना अवश्य ध्यातव्य है कि सप्तम गुणस्थानसे लेकर दशम गुणस्थान तक उस व्यवहारधर्मका सद्भाव अन्तरंगरूपमें ही रहता है । तथा द्वितीय और तृतीय गुणस्थानोंमें यथासम्भव रूपमें रहनेवाला व्यवहारधर्म भी अबुद्धिपूर्वक ही रहता है । एकादश गुणस्थानसे लेकर आगेके सभी गुणस्थानोंमें व्यवहारधर्मका सर्वथा अभाव रहता है । वहाँ केवल निश्चयधर्मका ही सद्भाव रहता है । क्रियावती शक्तिके परिणमन स्वरूप व्यवहार अविरतिका सद्भाव प्रथम गुणस्थानसे चतुर्थ गुणस्थान तक ही सम्भव है ।

जीवको मोक्षकी प्राप्ति निश्चयधर्म पूर्वक होती है

प्रकृतमें मोक्ष शब्दका अर्थ जीव और शरीरके विद्यमान संयोगका सर्वथा विच्छेद हो जाना है । जीव और शरीरके विद्यमान संयोगका सर्वथा विच्छेद चतुर्थदश गुणस्थानमें तब होता है जब उस जीवके साथ बद्ध चार अघाती कर्मोंका सर्वथा क्षय हो जाता है । जीवको चतुर्थदश गुणस्थानकी प्राप्ति तब होती है जब त्रयो-

दश गुणस्थानमें कर्मास्त्रवमें कारणभूत जीवके योगका सर्वथा निरोध हो जाता है। जीवको त्रयोदश गुणस्थानकी प्राप्ति तब होती है जब जीवके साथ बद्ध ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घाती कर्मोंका द्वादश गुणस्थानमें सर्वथा क्षय हो जाता है। जीवको द्वादश गुणस्थानकी प्राप्ति तब होती है जब जीवके साथ बद्ध मोहनीयकर्मप्रकृतियोंका पूर्वमें यथासमय क्षय होते हुए दशम गुणस्थानके अन्त समयमें शेष सूक्ष्म लोभ प्रकृतिका भी क्षय हो जाता है। द्वादश गुणस्थानका अर्थ ही दशम गुणस्थानके अन्त समयमें मोहनीयकर्मका सर्वथा क्षय हो जानेपर जीवकी भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मका पूर्णतः हो जाना है। इस विवेचनसे निर्णीत होता है कि जीवको मोक्षकी प्राप्ति निश्चयधर्म पूर्वक होती है।

**जीवको निश्चयधर्मकी प्राप्ति व्यवहारधर्मपूर्वक होती है**

जीवकी भाववती शक्तिका निश्चयधर्मके रूपमें प्रारम्भिक विकास चतुर्थगुणस्थानके प्रथम समयमें होता है और उसका वह विकास पंचमादि गुणस्थानोंमें उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होकर एकादश गुणस्थानके प्रथम समयमें औपशमिक यथाख्यात निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमें अथवा द्वादश गुणस्थानके प्रथम समयमें क्षायिक यथाख्यात सम्यक्चारित्रके रूपमें पूर्णताको प्राप्त होता है। निश्चयधर्मका यह विकास मोहनीयकर्मकी उन-उन प्रकृतियोंके यथास्थान यथासंभव रूपमें होनेवाले उपशम, क्षय या क्षयोपशम पूर्वक होता है। तथा मोहनीयकर्मकी प्रकृतियोंका यथायोग्य वह उपशम, क्षय या क्षयोपशम भव्य जीवमें आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिका विकास होनेपर होता है व उसमें उस करणलब्धिका विकास क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोंके विकासपूर्वक होता है। एवं जीवमें इन लब्धियोंका विकास व्यवहारधर्म पूर्वक होता है। यह व्यवहारधर्म अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक शुभमें प्रवृत्तिरूप होता है। जीवको इसकी प्राप्ति तब होती है जब उस जीवमें भाववती शक्तिके हृदयके सहारेपर होनेवाले तत्त्वश्रद्धानरूप व्यवहारसम्यक्दर्शनकी और मस्तिष्कके सहारेपर होनेवाले तत्त्वज्ञानरूप व्यवहारसम्यग्ज्ञानकी उपलब्धि हो जाती है। इसके विकासकी प्रक्रियाको पूर्वमें व्यवहारधर्मकी व्याख्यामें बतलाया जा चुका है। इस विवेचनसे यह निर्णीत होता है कि व्यवहारधर्म निश्चयधर्मकी उत्पत्तिमें कारण होता है। यह विषय प्रश्नोत्तर २ और ३ की समीक्षासे भी जाना जा सकता है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि जीवको अपनी भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप निश्चयधर्मकी उत्पत्तिमें कारणभूत मोहनीयकर्मका यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम करनेके लिए इस व्यवहारधर्मके अन्तर्गत एकान्तमिथ्यात्वके विरुद्ध प्रशमभाव, विपरीतमिथ्यात्वके विरुद्ध संवेगभाव, विनयमिथ्यात्वके विरुद्ध अनुकम्पाभाव, संशयमिथ्यात्वके विरुद्ध आस्तिक्यभाव और अविवेकरूप अज्ञानमिथ्यात्वके विरुद्ध विवेकरूप सम्यग्ज्ञानभावको भी अपनेमें जागृत करनेकी आवश्यकता है। इसी प्रकार जीवको समस्त जीवोंके प्रति मित्रता (समानता) का भाव, गुणीजनोंके प्रति प्रमोदभाव, दुःखी जीवोंके प्रति सेवाभाव और विपरीत दृष्टि, वृत्ति और प्रवृत्ति वाले जीवोंके प्रति मध्यस्थता (तटस्थ) का भाव भी अपना देनेकी आवश्यकता है। इस तरह सर्वांगीणताको प्राप्त व्यवहारधर्म उपयुक्त प्रकार निश्चयधर्मकी उत्पत्तिमें साधक सिद्ध हो जाता है।

